अथ त्र्यस्त्रिंशोऽध्यायः

—:o:—

ऋषिः—**वत्सप्रीः**। देवता—**अग्नयः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभुभक्त का जीवन

अस्याजरासो दमामरित्राऽअर्चद्धूमासोऽअग्नयः पावकाः।
शितीचयः श्वात्रासो भुरण्यवो वनर्षदो वायवो न सोमाः॥१॥

१. **अस्य**=इस प्रभु के भक्त **अजरासः**=जीर्ण नहीं होते। मनुष्य जब प्रकृति की ओर झुकता है तब भोगप्रवण होकर क्षीण होने लगता है। प्रभुभक्त प्रकृति में न फँसकर अक्षीण बना रहता है। २. ये प्रभुभक्त अक्षीण इसलिए बने रहते हैं कि ये **दमाम्**=दमन करनेवाली वासनाओं में से **अरित्राः**=शत्रुभूत वासनाओं से अपना त्राण करते हैं। काम-क्रोधादि वासनाएँ मनुष्य की शत्रुभूत हैं, उनसे यह प्रभुभक्त अपने को बचाता है, अतएव अक्षीण बना रहता है।

३. इन शत्रुभूत वासनाओं से ये अपने को इसलिए बचा पाते हैं कि ये **अर्चत्**=प्रभु की अर्चना करनेवाले होते हैं और इस प्रकार **धूमासः**=वासनाओं को प्रकम्पित करके दूर भगा देते हैं (अर्चन्तः धूमासः, धूञ् कम्पने)। ४. वासनाओं को कम्पित करके ये **अग्नयः**= अग्नि बनते हैं, आगे बढ़ते हैं। ५. इस प्रकार उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हुए ये अपने को **पावकाः**=पवित्र कर लेते हैं। भटकने से ही अपवित्रता आती है। न ये भटकते हैं, न अपवित्र होते हैं। ६. **शितीचयः**='शितिं चिन्वन्ति'=ये शुद्धता का सञ्चय करते हैं अथवा 'शितिं अञ्चन्ति=शुक्लमार्ग से ही गति करते हैं। निष्कामता से यज्ञों को करना ही शुक्ल मार्ग है। इस मार्ग पर चलते हुए ये ७. **श्वात्रासः**=कल्याणवाले होते हैं अथवा उस ज्ञानरूप धनवाले होते हैं जो 'शि'=वृद्धि का हेतु व 'त्र' त्राण-रक्षण का कारण बनता है। ८. इस प्रकार वैयक्तिक जीवन को उल्लिखित सप्त रत्नों से भरकर ये **भुरण्यवः**=सब लोगों का भरण करनेवाले बनते हैं। ९. **वनर्षदः**=(वन्=worshipping, a ray of light) अपने खाली समय को ये पूजा में या ज्ञान-प्राप्ति में व्यय करते हैं (वन्=पूजा या ज्ञानप्राप्ति, सद्=बैठना)। १०. **वायवः न**=ये वायुओं के समान सदा गतिशील होते हैं और वायु की भाँति ही ये प्रजा में प्राण का सञ्चार करते हैं। ११. इस स्थिति में स्वाभाविक है कि लोगों से इन्हें मान व पूजा प्राप्त हो, परन्तु इन्हें चाहिए कि उस पूजा से अपने मस्तिष्क को विकृत न होने दें और **सोमाः**=सौम्य बने रहें। अधिक-से-अधिक आदृत, परन्तु अधिक-से-अधिक विनीत। इस प्रकार बनने पर ही ये प्रभु के **वत्स**=प्रिय होते हैं। ये अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन (वद=बोलना) कर रहे होते हैं और इसी कारण प्रभु को प्रीणित=प्रसन्न कर पाते हैं और इस मन्त्र के ऋषि 'वत्सप्री' होते हैं।

भावार्थ—मन्त्रोक्त ग्यारह बातें हमारे जीवन में आनूदित हों और हम सच्चे प्रभुभक्त बनें।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्नयः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्रभुभक्त=धूमकेतु

हरयो धूमकेतवो वातजूताऽउप द्यविं। यतन्ते वृथगग्नयः॥२॥

१. गतमन्त्र-वर्णित प्रभुभक्त **हरयः**=औरों के दुःखों को हरण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः ये औरों के दुःखों को अपना बना लेते हैं और उसे दूर किये बिना शान्ति अनुभव नहीं करते। २. **धूमकेतवः**=(धूम=वासनाओं को कम्पित करना, **केतु**=ज्ञानवाला) इनका ज्ञान वासनाओं को दूर करनेवाला होता है। इस ज्ञान को देकर वासना-विनाश के द्वारा ये लोगों को दुःखों से ऊपर उठाते हैं। ३. **वातजूताः**=अपने इस ज्ञान-प्रसार के कार्य में ये वायु से प्रेरित होते हैं। वायु से प्रेरणा प्राप्त करके ये निरन्तर ज्ञान-प्रसाररूप कार्य में लगे रहते हैं। ४. जिनका ये हित कर रहे हैं वे लोग सम्भवतः इनके कृतज्ञ न होकर इनका अपमान भी कर दें, परन्तु ये तो **वृथक्**=वृथा ही, अर्थात् किसी भी प्रकार की फलाशा को न लेकर **उपद्यवि**=उस द्योतनात्मक प्रभु के चरणों में स्थित हुए-हुए **यतन्ते**=उद्योग में लगे रहते हैं। यह 'सर्वभूतहित में लगना ही तो सच्ची प्रभुभक्ति है. और अन्ततः ५. **अग्नयः**='अग्रेणीः' औरों को भी आगे ले-चलनेवाले होते हैं। स्वयं अग्नि बनकर ये औरों को भी अग्नि बना पाते हैं। लोकहित में लगे हुए ये सबमें अपने को ही देखते हैं और इस कारण 'विश्वरूप' हो जाते हैं, सभी के सुख में ये सुख का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—हम स्वयं अग्नि बनकर औरों को भी अग्नि बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्रीः**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत की तैयारी

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२॥ऽऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'अग्नि' बनने के लिए हम प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप अग्नि हैं, आपके सम्पर्क से हम भी अग्नि बन पाएँगे। आप **नः**=हमारे साथ **मित्रावरुणा**=प्राण और अपान का **यज**=मेल कीजिए (यज=सङ्गतिकरण)। रोगों से (मि) बचाने के कारण (त्र) प्राण ही 'मित्र' है और रोगों का निवारण (**वरुण**) करने से अपान 'वरुण' है। इस प्राणापान की शक्ति से सङ्गत होकर हम नीरोग बनेंगे। स्वस्थ शरीर से हम अपनी जीवन-यात्रा को सफलता से सिद्ध कर पाएँगे। २. हे अग्ने! आप हमें प्राणापान के द्वारा स्वस्थ बनाकर **देवान्**=दिव्य गुणों को **यज**=प्राप्त कराइए। आपकी कृपा से जहाँ हमारा शरीर स्वस्थ हो वहाँ हमारा मन भी पूर्णरूप से स्वस्थ हो। इस मन से राग-द्वेष-मोहरूप मल नष्ट हो जाएँ और उसमें दिव्य गुणों का विकास हो। **'येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः'**=देव न परस्पर विरुद्ध गति करते हैं, न ही परस्पर द्वेष करते हैं। हम भी द्वेष से ऊपर उठकर देव बनें। ३. हे प्रभो! **ऋतम्**=ऋत को **यज**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। **ऋत**=right=ठीक-ठीक वह है जो ठीक स्थान पर हो और ठीक समय पर हो। प्रभो! हम आपके अनुग्रह से सब कार्यों को ठीक समय पर व ठीक स्थान पर करनेवाले हों, क्योंकि यह ऋत ही **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि का कारण बनेगा। ४. हे **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **स्वं दमम्**=आत्म-दमन को **यक्षि**=हमारे साथ सङ्गत कीजिए। हम अपना दमन करना सीखें। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'गोतम' अपनी इन्द्रियों को प्रशस्त बनाने के लिए चार प्रार्थनाएँ करता है—१. मुझे प्राणापान २. दिव्य गुण ३. वृद्धि का कारणभूत ऋत व ४. आत्मदमन की शक्ति प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु के स्वागत की तैयारी का स्वरूप यही है कि हम १. स्वास्थ्य के द्वारा शरीर को रोगरूप मलों से दूर करते हैं २. दिव्य गुणों के द्वारा द्वेषरूप मानसमल को दूर करते हैं ३. ऋत के द्वारा उन्नति के विघ्नों को समाप्त करते हैं और ४. आत्मदमन से अपने

सब मलों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**विश्वरूपः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

स्वागत

युक्ष्वा हि देवहूतमाँ२॥ऽअश्वाँ२॥ऽअग्ने रथीरिव। नि होता पूर्व्यः सदः॥४॥

१. हे **अग्ने!**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! **रथीः इव**=उत्तम सारथि के समान **हि**=निश्चय से **देवहूत-मान्**=अधिक-से-अधिक दिव्य गुणों का आह्वान करनेवाले **अश्वान्**=इन्द्रियरूप अश्वों को **युक्ष्व**=इस शरीररूप रथ में जोतिए। मेरे इस रथ के सारथि आप ही हैं। आपने ही यह रथ दिया है, उसमें घोड़े भी आपने ही जोतने हैं। २. अब दिव्य गुणों का पुञ्ज बनकर सब प्रकार के मलों को दूर करके मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि (क) **होता**=आप सब पदार्थों के देनेवाले हैं (ख) **पूर्व्यः**=आप सबसे पूर्व स्थान में स्थित हैं, सबसे अग्रणी हैं, परमेष्ठी हैं। आप **निसदः**=यथाशक्ति पवित्र किये गये मेरे इस हृदय-मन्दिर में विराजमान हों। ३. संसार में हम किसी भी मान्य पुरुष को आमन्त्रित करते हैं तो अपने घर को साफ़-सुथरा करने का प्रयत्न करते हैं। आज प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'विश्वरूप' ने प्रभु को आमन्त्रित करना है, अतः उसने अपनी सभी इन्द्रियों को शुद्धतम करने का प्रयत्न किया है। शरीर, मन, आत्मा व इन्द्रियाँ—सभी को शुद्ध बनाकर वह प्रभु से कहता है कि हे प्रभो! आइए और मेरे हृदयासन पर विराजिए। मैंने यथासम्भव अपने हृदय को द्वेषरूप मल से शून्य किया है। द्वेष से ऊपर उठकर सभी में आत्मभावना करके मैंने 'विश्वरूप' बनकर सच्चे 'विश्वरूप' आपका दर्शन करने की कामना की है। आप आइए, मेरे हृदय में आसन ग्रहण कीजिए, जिससे मैं आपके दर्शन से कृतकृत्य हो सकूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों को परिशुद्ध करके हम अपने हृदयों में प्रभु का आह्वान करें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

धात्रीद्वय स्तन्यपान

द्वे विरूपे चरतः स्वर्थेऽअन्यान्या वत्समुप धापयेते।
हरिरन्यस्यां भवति स्वधावाञ्छुक्रोऽअन्यस्यां ददृशे सुवर्चीः॥५॥

१. ३१वें अध्याय की समाप्ति पर 'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इन शब्दों में कहा था कि 'धन व ज्ञान' वे दो तेरी पत्नियाँ हैं। इसी बात को 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च' इन शब्दों में दुहराया गया है (क्षत्रमिति धननाम—नि० २।१०)। यहाँ 'ब्रह्म' ज्ञान का वाचक है और 'क्षत्र' धन का। ये दोनों ही मनुष्य के पालन करनेवाले हैं। यहाँ इनका पालक धात्रियों के रूप में चित्रण है। **द्वे**=ये 'श्री और लक्ष्मी' दोनों **विरूपे**=परस्पर भिन्न रूपवाली हैं—एक आन्तर है तो दूसरी बाह्य। अथवा ये दोनों ही विशिष्ट रूपवाली हैं। **चरतः**=(परिचरतः) ये दोनों इस प्रभुभक्त की परिचर्या=सेवा करती है। मानव-जीवन के लिए धन व ज्ञान दोनों सहायक हैं। **स्वर्थे**=(सु अर्थ) दोनों ही उत्तम प्रयोजनवाले हैं। **अन्यान्या**=दोनों अलग-अलग **वत्सम्**=उस प्रभु के प्रिय को अथवा अपने जीवन से प्रभु का प्रतिपादन करनेवाले को (वदति) **उपधापयेते**=दूध पिलाती हैं, अर्थात् उसका पोषण करती हैं। २. इनमें से **अन्यस्याम्**=एक में तो यह वत्स=प्रभु का प्रिय पुत्र (क) **हरिः**=अपने दुःखों को दूर करनेवाला तथा (ख) **स्वधावान्**=अपना धारण करनेवाला **भवति**=होता है, अर्थात् धन के द्वारा ये दुःखों को दूर करने के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटा पाता है, रोगादि होने पर

औषधों के लिए धन का विनियोग करता है और अपने धारण के लिए आवश्यक भोजनादि सामग्री का संग्रह करने में समर्थ होता है। एवं, प्रभुभक्त के लिए श्री के दो ही उपयोग हैं १. दुःख दूर करने के लिए और २. धारण के लिए आवश्यक सामग्री का संग्रह। ३. **अन्यस्याम्**=दूसरी लक्ष्मीरूप धात्री में यह **शुक्रः**=ज्ञान की ज्योति से उज्ज्वल तथा **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् व तेजवाला **ददृशे**=दिखता है। शुक्र शब्द 'शुच् दीप्तौ' धातु से बना है। ज्ञानाग्नि से यह दीप्त होता है, क्योंकि ज्ञानाग्नि इसके मलों को नष्ट कर देती है। ज्ञान से काम-क्रोध अथवा राग-द्वेषादि के मल भस्म कर दिये जाते हैं। वासनारूप मल के नष्ट होने पर यह भी परिणाम होता है कि यह भोगविलास में न फँसने से उत्तम तेजवाला बना रहता है। एवं, प्रभुभक्त में ज्ञान के भी दो परिणाम दिखते हैं १. नैर्मल्य के कारण दीप्ति, तथा २. विलास से दूर रहने के कारण विशिष्ट तेजस्विता। अपने ज्ञान से व ज्ञानजन्य तेजस्विता से सब शत्रुभूत वासनाओं को समाप्त करनेवाला यह वत्स=प्रभुभक्त 'कुत्स' कहलाता है (कुथ हिंसायाम्) काम-क्रोधादि का हिंसन करनेवाला।

भावार्थ—लक्ष्मी व श्रीरूप धात्रियों का दुग्धपान करके हम 'हरि, स्वाधावान्, शुक्र व सुवर्चाः' बनें। हम सब दुःखों से दूर हों, अपना धारण करने में समर्थ हों, देदीप्यमान व तेजस्वी हों।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

प्रभु के प्रिय कौन? (प्रभु का प्रकाश किनमें?)

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्वीड्यः ।
यमप्नवानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्वं विशेविशे ॥६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्रकार से धात्रीद्वय (श्री+लक्ष्मी) का स्तन्यपान करके जो अपना धारण करते हैं उन्हीं **धातृभिः**=उत्तम प्रकार से धारण करनेवालों से **इह**=इस मानव-जीवन में **अयम् प्रथमः**=यह चतुर्थ मन्त्र का 'पूर्व्य'=सबसे प्रथम होनेवाला परमेष्ठी प्रभु **धायि**=धारण किया जाता है। प्रभु का धारण वही कर पाता है जो शरीर को नीरोग रखता (हरि) है (ख) शरीर के धारण के लिए ही भोजनाच्छादन का प्रयोग करता (स्वधावान्) है (ग) ज्ञानाग्नि से मन के मैलों को जलाकर चमकता है (शुक्र) तथा विलास में न फँसने से तेजस्वी होता है। २. ये प्रभु ही (क) **होता**=सब-कुछ देनेवाले हैं। क्या धन और क्या ज्ञान ये प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। (ख) **यजिष्ठः**=ये सर्वोत्तम वस्तुओं का हमारे साथ सम्बन्ध करनेवाले हैं। हम अज्ञानवश ग़लत वस्तु की भी कामना कर सकते हैं, प्रभु हमें उत्तम ही वस्तुएँ प्राप्त कराते हैं। (ग) हम उत्तम साधनों को प्राप्त करके जो भी लोकसंग्रह व परोपकार के उत्तम कर्म कर पाते हैं, उन सब **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञों में **ईड्यः**=वे प्रभु ही स्तुति के योग्य हैं। वस्तुतः सब उत्तम कर्म प्रभु की शक्ति व कृपा से ही हो रहे होते हैं। ३. ये प्रभु वे हैं **यम्**=जिनको **अप्नवानः**=उत्तम यज्ञिय कर्मोंवाले लोग तथा **भृगवः**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले तपस्वी ज्ञानी ही **विरुरुचुः**=प्रिय होते हैं। प्रभु का प्रिय बनने के लिए कर्म व ज्ञान का समन्वय आवश्यक है, क्योंकि वैदिक गणित का यही समीकरण है—ज्ञान+कर्म=भक्ति। ४. ये प्रभु **वनेषु**=(वन=संभजन) अपने संभजन करनेवाले भक्तों में **चित्रम्**=ज्ञान को देनेवाले हैं। प्रभु अग्नि है, यह भक्त भी अग्नि-सा बन जाता है, इसकी ज्ञानाग्नि भी चमक उठती है। ५. जो व्यक्ति स्वार्थी न रहकर अपने जीवन को औरों के जीवन से जोड़ देता है वह 'विश' कहलाता है। **विशेविशे**=वसुधा को ही कुटुम्ब

समझनेवाले प्रत्येक ऐसे व्यक्ति में **विभ्वम्**=वे प्रभु (विभू=to become manifest in) प्रकाशित होते हैं। इनके जीवनों में प्रभु की शक्ति प्रकट होती है और सामान्य लोग ऐसे लोगों में प्रभु की महिमा का दर्शन करते हैं। इस शक्ति के अवतरण से ये सब शत्रुओं का संहार करके 'कुत्स' नामवाले हुए हैं। 'विभु' शब्द का अर्थ शक्तिशाली भी है। प्रभु को धारण करनेवाले ये प्रभु की शक्ति को धारण करके सचमुच शक्तिशाली हो गये हैं।

भावार्थ—हम कर्मनिष्ठ, तपस्वी, ज्ञानी बनकर प्रभु के प्रिय बनें, उपासक बनकर ज्ञान प्राप्त करें, सबके साथ अद्वैत का अनुभव करते हुए शक्तिशाली बनें, प्रभु की शक्ति का प्रकाश करनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वमित्रः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

देवों की अनुकूलता

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिꣳशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन् घृतैरस्तृणन् बर्हिरस्माऽआदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥७॥

१. **त्रीणि शता**=तीन सौ **त्री सहस्राणि**=तीन हज़ार **त्रिंशत् च**=और तीस **नव च**=और नौ **देवाः**=देव, अर्थात् कुल ३३३९ देव **अग्निम्**=इस उन्नति-पथ पर चलनेवाले की **असपर्यन्**=पूजा करते हैं, अर्थात् सब देव अग्नि के अनुकूल होते हैं। इनकी अनुकूलता का ही परिणाम होता है कि यह अग्नि पूर्ण स्वस्थ बन पाता है। शतपथ ११।६।३। ४-५ में कहा है कि **'कतमे वै देवाः? त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति। स याज्ञवल्क्यो होवाच महिमान एवैषां देवानां एते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति'**=देव कितने हैं? तीन और तीन सौ, तीन और तीन हज़ार, अर्थात् तीन हजार तीन सौ छह। इसपर याज्ञवल्क्य कहते हैं कि देवता तो ३३ ही हैं यह ३३०६ या ३३३९ संख्या तो उनकी महिमा की सूचनमात्र है। वस्तुतः द्यौः, अन्तरिक्ष व पृथिवी, अर्थात् उनमें स्थित ३३ देवों की शान्ति व अनुकूलता पर ही मनुष्य का शारीरिक, मानस व मस्तिष्क का स्वास्थ्य निर्भर करता है। २. ये अनुकूल बने हुए देव ही इस **अग्नि**=उन्नतिशील पुरुष को **घृतैः**=मलों के क्षरण=दूरीकरण तथा दीप्ति से **औक्षन्**=सिक्त करते हैं। स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन व स्वस्थ मस्तिष्क तो होते ही हैं। देवों की अनुकूलता में शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त होता है, मन भी राग-द्वेष के मैल से रहित हो जाता है। इन मलों का दूरीकरण होकर मन प्रसादमय हो उठता है। मस्तिष्क भी स्वस्थ होता है। इन देवों ने शरीर में स्वास्थ्य, मन में नैर्मल्य तथा मस्तिष्क में दीप्ति को प्राप्त कराया है। ३. इस अग्नि के लिए इन देवों ने **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण (विनाश) कर दिया गया है ऐसे हृदयासन को **अस्तृणन्**=बिछाया है। चतुर्थ मन्त्र में उस होता=सर्वप्रदाता प्रभु से हृदय में आसीन होने के लिए प्रार्थना की गई थी। अब सब प्रकार से तैयारी करके **आत् इत्**=ठीक समय बाद **होतारम्**=उस स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति को देनेवाले प्रभु को **न्यसादयन्त**=इस पवित्र हृदयासन पर आसीन करते हैं। देवों की अनुकूलता हमें महादेव का भी प्रिय बना सकती है। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है, सभी के साथ स्नेह करनेवाला है। यह किसी से द्वेष नहीं करता और इसी कारण यह प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर हमें स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति प्राप्त होती है और हमारा हृदय प्रभु का आसन बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

देवकृत अग्नि का विकास

मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्।
कविꣳ सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः ॥८॥

प्राकृतिक देवों की अनुकूलता होने पर **देवाः**='माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव **अग्निम्**=इस उन्नतिशील पुरुष को **आजनयन्त**=सर्वथा बना देते हैं। कैसा?

१. **दिवः मूर्धानम्**=ज्ञान-दीप्ति का शिखर। **'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'** इस वचन के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करनेवाला पुरुष ज्ञानी बनता है। ज्ञान का ही परिणाम होता है कि वह २. **अरतिम् पृथिव्याः**=पार्थिव भोगों के प्रति रतिवाला नहीं होता। ज्ञान आसक्ति को नष्ट कर देता है। भोगों में लिप्त न होकर यह ज्ञानी ३. **वैश्वारनम्**=(विश्वनरहितम्) सब लोगों के हित में प्रवृत्त होता है। भोगप्रवण मनुष्य स्वार्थी हुआ करता है। ज्ञानी परमार्थ में ही आनन्द का अनुभव करता है ४. **ऋते आजातम्**=(ऋतम् एव अनुभवितुं जातम्) यह अपनी जीवन-यात्रा में सदा सत्य का पालन करता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानों ऋत का ही अनुभव लेने के लिए यह पैदा हुआ हो। असत्य से यह सदा दूर रहता है, इसलिए ५. **अग्निम्**=आगे-और-आगे बढ़ता चलता है, औरों को भी यह आगे ले-चलता है। ६. आगे ले-चलने के लिए **कविम्**=(कौति सर्वा विद्याः) सब विद्याओं का यह उपदेश करता है अथवा स्वयं आगे बढ़ने के लिए क्रान्तदर्शी बनता है, वस्तुओं की आपातरमणीयता से आकृष्ट नहीं होता। विषयों से आकृष्ट न होने के कारण ७. **सम्राजम्**=इसका जीवन बड़ा दीप्त व व्यवस्थित (regulated) होता है। ८. यह दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाला 'विश्वामित्र'=सभी का स्नेही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि **जनानाम्**=लोगों का **अतिथिम्**=सातत्येन गमनवाला होता है। जहाँ भी दुःख देखता है वहीं पहुँच जाता है और उन लोगों का कल्याण करने का प्रयत्न करता है। ९. यह **आसन्**=मुख के द्वारा **पात्रम्**=रक्षा करनेवाला होता है, अर्थात् मुख के द्वारा दूसरों को ज्ञान देता हैं और उनमें उत्साह का सञ्चार करता है। यह सभी के हित में प्रवृत्त हुआ-हुआ व्यक्ति सचमुच प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

प्रस्तुत मन्त्र में उन्नति के कारणों का संकेत बड़ी सुन्दरता से किया गया है कि १. **देवाः**=प्राकृतिक देवों की अनुकूलता तो चाहिए ही २. प्रशस्त माता-पिता व आचार्य का मिलना भी अत्यन्त आवश्यक है। ३. और फिर **'अग्निम्'**=उस व्यक्ति के अन्दर आगे बढ़ने की भावना का जागना भी नितान्त अपेक्षित है। इस भावना के जागे बिना किसी प्रकार की उन्नति सम्भव नहीं।

भावार्थ—देवों की कृपा से हमारा जीवन मन्त्र-वर्णित बातों से युक्त होकर नव (नवीन) ही बन जाए और सबका स्तुत्य (नू स्तुतौ) हो सके।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

अग्नि का वृत्रहनन

अग्निर्वृत्राणि जङ्घनद् द्रविणस्युर्विपन्यया। समिद्धः शुक्रऽआहुतः ॥९॥

१. **अग्निः**=हमारी सब उन्नतियों के साधक वे प्रभु **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली कामादि वासनाओं को **जंघनत्**=नष्ट करते हैं। जीव स्वयं वासना के विजय में समर्थ नहीं।

प्रभु से मिलकर ही हम काम को जीत पाते हैं। २. यह वासना-विनाशरूप कार्य प्रभु करते तभी हैं जब **द्रविणस्युः**=द्रविण के चाहनेवाले प्रभु को हम अपने द्रविण की भेंट कर दें। अथर्ववेद का मन्त्र बड़ी सुन्दरता से कहता है कि यदि मोक्ष चाहते हो तो 'मह्यं दत्त्वा'=यह द्रविण मुझे लौटा दो। हमने धन लौटाया और वासना-वृक्ष का मूल कटा। ३. प्रभु को धन लौटाकर हम वासनाओं को जीत पाते हैं, यदि उस प्रभु का स्मरण करते रहें **विपन्यया**=विशिष्ट स्तुति के द्वारा। इसी विशिष्ट स्तुति का स्वरूप मन्त्र के उत्तरार्ध में व्यक्त किया गया है (क) **समिद्धः**=दीप्त किया गया (ख) **शुक्रः**=(शुक गतौ) जाया गया (ग) **आहुतः**=अर्पण किया गया। (क) हम उस प्रभु की भावना को अपने हृदयों में दीप्त करें, उसका चिन्तन करें। योग के शब्दों में 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'=उसके नाम का जप और प्रणव के अर्थ का चिन्तन करें। (ख) इस प्रकार उस प्रभु का स्तवन करके उसकी ओर चलें, उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करें। मार्ग में आनेवाले विघ्नों को जीतकर उसकी ओर बढ़ते चलें। (ग) उसके समीप पहुँचकर उसके प्रति अपने को अर्पित कर दें। (घ) वासनाओं को नष्ट करके यह प्रभुभक्त अपने अन्दर शक्ति (वाज) का भरण (भरद्) करता है, अतः 'भरद्वाज' नामवाला हो जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने का प्रयत्न करें, इसी उद्देश्य से धनों का यज्ञों में विनियोग करें, जिससे प्रभु हमपर आक्रमण करनेवाले वृत्रों का विनाश करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराड्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सौम्य मधु का पान

विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्नऽइन्द्रेण वायुना। पिबा मित्रस्य धामभिः॥१०॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ) निरन्तर प्रभु की ओर चलनेवाले। उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाले जीव! तू **मित्रस्य**=अपने मित्र प्रभु के **धामभिः**=तेजों के उद्देश्य से **सोम्यम् मधु**=सौम्य मधु को **इन्द्रेण**=इन्द्र से, अर्थात् इन्द्र बनकर और **वायुना**=वायु से अर्थात् प्राणों की साधना से **पिब**=पान कर। २. गतमन्त्र में 'भरद्वाज' ने प्रभु को समिद्ध किया, उसकी ओर चला और अन्त में उसके प्रति अपना अर्पण किया, इस प्रकार वह प्रभु का 'सयुज-सखा'=साथ रहनेवाला मित्र बन गया। 'इस मित्र के तेजों को यह भारद्वाज भी प्राप्त करना चाहे' यह स्वाभाविक ही है। प्रभुभक्त प्रभु-जैसा क्यों न बने? ३. इन तेजों को प्राप्त करने के लिए ही मन्त्र में 'सोम्य मधु' के पान का उल्लेख (विधान) है। वीर्यशक्ति (semen) ही सोम है। यह अन्न का सारभूत होने से मधु कहा गया है। मधु (शहद) भी पुष्परसों का सार होता है। यह शक्ति शरीर में सुरक्षित होने पर मनुष्य को 'सौम्य' बनाती है तथा उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उसे (स+उमा) ब्रह्मज्ञानसहित करती है, इसी से इसका नाम 'सौम्य' पड़ गया है। ४. इस सोम का पान करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य 'इन्द्र' बने, जितेन्द्रिय हो। इन्द्रियों का अधिष्ठाता इन्द्र ही सोम का पान करता है। ५. इन इन्द्रियों के वशीकरण व निर्दोषता के लिए प्राणों की साधना अत्यन्त उपयोगी है। **वायुना**=प्राणों के द्वारा, प्राणायाम से ही इन्द्रियों के मल नष्ट होते हैं। साथ ही इस प्राणसाधना से वीर्य की ऊर्ध्वगति भी सिद्ध होती है और मनुष्य ऊर्ध्वरेतस् बन पाता है। यह रेतस् ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह साधक दीप्त बुद्धि को प्राप्त करके 'मेधातिथि' बन जाता है, निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला।

भावार्थ—हम जितेन्द्रियता व प्राणसाधना के द्वारा 'सोम्य मधु' (वीर्य) का पान

करनेवाले बनें, जिससे अपने मित्र उस प्रभु के तेजों से तेजस्वी बन सकें।

ऋषिः—**पराशरः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

जनन-सूदन

आ यदिषे नृपतिं तेजऽआनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवानꣳ स्वाध्यं जनयत्सूदयच्च॥११॥

१. संसार में मनुष्य प्रयत्न करता है, परन्तु शतशः प्रयत्नों के होते हुए भी कई बार वह ठीक मार्ग पर नहीं चल पाता। विघ्न प्रबल होते हैं, वह उन्हें नहीं जीत पाता, परन्तु प्रभु की **इषे**=प्रेरणा होने पर **नृपतिम्**=(ना चासौ पतिश्च) इस आगे बढ़नेवाले इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **तेजः**=तेज **यत्**=जब **आनट्**=समन्तात व्याप्त होता है तब **शुचि रेतः**=वह शुद्ध रेतस् (वीर्य) **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **अभीके**=समीप, अर्थात् ज्ञानाग्नि में **निषिक्तम्**=सिक्त होता है, यह वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और यह **नृपति**=जितेन्द्रिय मनुष्य उस **नृपतिः**=सब मनुष्यों के स्वामी प्रभु के दर्शन के योग्य बनता है। एवं, इस मन्त्र के पूर्वार्ध में निम्न बातें स्पष्ट हैं—(क) उन्नति प्रभुकृपा से ही होती है जब मनुष्य प्रभुप्रेरणा को सुन पाता है तभी उसमें इन्द्रियों का स्वामी बनने की भावना जागती है। (ख) यह जितेन्द्रिय (नृपति) ही तेजस्वी बन पाता है। (ग) इसका यह वासनाओं से अदूषित, पवित्र तेज इसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। २. दीप्त ज्ञानाग्निवाला यह **अग्निः**=उन्नतिशील पुरुष **जनयत्**=उस प्रभु के दर्शन करता है, हृदय में उसका प्रादुर्भाव कर पाता है, जो प्रभु (क) **शर्द्धम्**=तेज हैं, तेज के पुञ्ज हैं। (ख) **अनवद्यम्**=जिनमें किसी प्रकार का अवद्य पाप नहीं है, जो अपापविद्ध हैं। (ग) **युवानम्**=जो अशुभ को दूर करके शुभ के साथ हमें संपृक्त करनेवाले हैं। (घ) **स्वाध्यम्**=(सु आध्य) उत्तमता से सर्वथा ध्यान करने योग्य हैं।

इस प्रभु के प्रादुर्भाव से यह आत्मा भी तेजस्वी, निष्पाप व अशुभ से दूर व शुभ से युक्त होती है। ३. प्रभु का अपने हृदयान्तरिक्ष में प्रादुर्भाव करनेवाला यह अग्नि इस प्रभु का मित्र बनकर **सूदयत् च**=सब काम-क्रोधादि वासनाओं को नष्ट कर देता है (सूद to kill)। जब तक जीव अकेला था, वासनाओं का शिकार हो जाता था, परन्तु अब प्रभु से मित्रता करके यह वासनाओं को भस्म करने योग्य हो गया है।

भावार्थ—प्रभु प्रेरणा से जितेन्द्रिय बन हम ऊर्ध्वरेतस् बनें, ज्ञानाग्नि को दीप्त कर प्रभु-दर्शन करें। वासनाओं को सुदूर विशरण करनेवाला व्यक्ति ही 'पराशर' है।

ऋषिः—**विश्ववारा**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रभु का आशीर्वाद व आदेश

अग्ने शर्द्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यꣳ सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महाꣳसि॥१२॥

प्रभु-दर्शन से पाप-प्रमथन करनेवाले अग्नि को प्रभु आशीर्वाद देते हैं कि १. **अग्ने**=हे आगे बढ़नेवाले जीव! तू **महते सौभगाय**=महान् सौन्दर्य के लिए **शर्ध**=(to strive) पूर्ण प्रयत्न करनेवाला हो। तेरा कोई भी काम असत् प्रकार से न किया जाए। तू अपने जीवन में संवेदनशीलता (Sensitiveness) तथा परिहास (Humour) का समन्वय करके अपने प्रत्येक कार्य व व्यवहार को सुन्दर बना सके। सौभग शब्द में निम्न छह भावनाएँ हैं—

ऐश्वर्य, धर्म, यशस्, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन सबको तू अपने जीवन में समन्वित करके इसे सुन्दर बनानेवाला हो। २. **तव**=तेरे **द्युम्नानि**=तेज, ज्योति (Splendour), बल (Power), धन Wealth, प्रेरणाएँ Inspiration=तथा यज्ञिय कर्म ये सबके-सब **उत्तमानि सन्तु**=उत्तम हों। बुद्धि व शरीर के स्वास्थ्य का साधन करके तू तेजस्वी व बलवान् हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त कर। तेरा पवित्र हृदय सदा यज्ञिय कर्मों की ओर झुका रहे। ३. **संजास्पत्यम्**=अपने उत्तम दाम्पत्य को **सुयमम्** 'उत्तम यम, संयमवाला **आकृणुष्व**=कर। यह संयम ही गृहस्थ को स्वर्ग बनाता है। माता-पिता व सन्तान सभी का स्वास्थ्य इसी संयम पर निर्भर करता है। गृहस्थ होते हुए संयमी होना सर्वमहान् साधना है। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ व संन्यासी तो परिस्थिति से संयमी बन ही सकते हैं, परन्तु सब सामग्रियों के बीच में भी तपस्वी रह जाना तो महत्त्व रखता है। ४. इस प्रकार संयम से शक्तिशाली बनकर तू **शत्रूयताम्**=तेरे प्रति शत्रुता का आचरण करनेवाले इन कामादि के **महाँसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=कुचल डाल। ५. प्रभु के आशीर्वाद से सब बातों का (विश्व) वरण करनेवाली आत्मा (वारा) 'विश्ववारा' कहलाती है। प्रभु के इस आशीर्वाद में ये चार प्रेरणाएँ निहित है। ये ही प्रभु के निर्देश व आदेश है। इनका पालन करनेवाला उस **विश्व**=सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का वरणीय होता है, इसलिए भी इसका नाम 'विश्ववारा' हो गया है।

भावार्थ—हम महान् सौभग के लिए प्रयत्न करें, हमारे द्युम्न उत्तम हों। हमारा दाम्पत्य संयमवाला हो और हम क्रोधादि के वेग को समाप्त कर दें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

मन्द्रतम इन्द्र व वायु का आराधन

त्वाꣳहि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने।
इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः ॥१३॥

१. गत मन्त्र के आशीर्वाद को सुनकर अग्नि प्रभु से कहता है कि **मन्द्रतमम्**=अत्यन्त आनन्दमय (Delightful) और प्रशंसनीय (praise worthy) **त्वां हि**=निश्चय से तुझे ही **अर्कशोकैः**=(अर्च्, शुच्) पूजाओं व ज्ञानदीप्तियों के द्वारा **ववृमहे**=हम वरते हैं। हमारी पूजा की वृत्ति व ज्ञान की दीप्तियों से प्रसन्न **अग्ने**=आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **महि**=महत्ता व बुद्धि (greatness व Intellect) **श्रोषि**=देने की प्रतिज्ञा करते हैं। (प्रतिश्रु=to promise, to give, सन्तुष्टि=a boon) उपर्युक्त कथन में तीन बातें स्पष्ट हैं—(क) प्रभु अत्यन्त आनन्दमय हैं (ख) उस आनन्दमय प्रभु का आराधन **अर्कशोकैः**=अर्चना-मन्त्रों से तथा ज्ञान की दीप्तियों से होता है, (ग) प्रसन्न हुए-हुए प्रभु हमें बुद्धि व महत्ता प्राप्त कराते हैं। यह समझदारी व उदार-हृदयता हमें भी आनन्दमय बनाती है। २. **इन्द्रं न**=सूर्य के समान देदीप्यमान **त्वा**=आपको **देवता**=दैवी सम्पत्तिवाले लोग **शवसा**=बल के द्वारा **पृणन्ति**=प्रसन्न व प्रीणित करते हैं। **'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'** (यजुः०) वे प्रभु सूर्य के समान ज्योतिर्मय हैं। उस प्रभु की ज्योति की कल्पना तभी कुछ हो सकती है यदि हज़ारों सूर्यों की ज्योति आकाश में इकट्ठी उठ खड़ी हो। इस सूर्य के समान ज्योतिर्मय प्रभु को आराधित करने के लिए आराधक ने भी **देवता**=(दीपनाद्वा द्योतनाद्व) चमकने व चमकानेवाला बनना है। ज्ञान की ज्योति के साथ उसने (शवसा) बल का भी सम्पादन करना है। ३. **वायुम्**=(वा गतौ) वायु की भाँति निरन्तर गतिशील आपको, स्वाभाविक क्रियावाले आपको, **नृतमाः**=अपने

को अधिक-से-अधिक उन्नति करनेवाले लोग **राधसा**=(राध सिद्धौ) सिद्धि व सफलता के द्वारा **पृणन्ति**=प्रीणित करते हैं। क्रियाशील प्रभु को वही आराधित कर सकेगा जो पौरुष को अपनाकर मनुष्यों में उत्कृष्ट मनुष्य (नृतम) बनेगा। ४. अपने अन्दर **शवस्**=शक्ति का **भरद्**=भरनेवाला 'भरद्वाज' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—(क) हम उपासना व ज्ञानदीप्ति से आनन्दमय प्रभु को आराधित करके हृदय की महत्ता व बुद्धि को प्राप्त करें। ये ही दो वस्तुएँ हमारे जीवन को आनन्दमय बनाती हैं। (ख) हम देव बनकर बल की साधना से उस सर्वशक्तिसम्पन्न इन्द्र का आराधन करें तथा (ग) सदा क्रियाशील प्रभु को पौरुषमय जीवन से प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**विद्वांसः**। छन्दः—**अनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

प्रभु के प्रिय कौन?

त्वेऽअग्ने स्वाहुत प्रियासः सन्तु सूरयः।
यन्तारो ये मघवानो जनानामूर्वान्दयन्त गोनाम्॥१४॥

हे **अग्ने**=सबके अग्रणी=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले प्रभो! **स्वाहुत** (सु आ हुत)=अत्यन्त उत्तमता से सब ओर, सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **त्वे**=आपके **प्रियासः**=प्रिय **सन्तु**=हों। कौन? १. **सूरयः** =जो विद्वान् हैं। ज्ञानी पुरुष ही प्रभु को प्रिय है। **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'**=ज्ञानी तो मुझे आत्मतुल्य प्रिय है। २. **यन्तारः**=जो इस शरीररूप रथ के उत्तम सारथि बनते हैं। जो इन्द्रियरूप घोड़ों को मनरूप लगाम से काबू करने में कुशल हैं। ३. **ये**=जो **जनानाम्**=लोगों में **मघवानः**=उस ऐश्वर्यवाले हैं, जिसमें (मा अघ) पाप का लवलेश भी नहीं। या (मघ=मख) जो लोगों में यज्ञिय प्रवृत्तिवाले हैं। यज्ञमय जीवन बनाकर जो सदा अमृत का सेवन करते हैं तथा अन्त में ४. **गोनाम्**=(गाव इन्द्रियाणि) इन्द्रियों की **ऊर्वान्**=हिंसाओं को **दयन्त**=हिंसित करते हैं। काम सर्वप्रथम इन इन्द्रियों को अपना शिकार बनाता है, तभी यह 'पञ्चबाण' है। इसका एक-एक बाण एक-एक इन्द्रिय पर आक्रमण करता है। जो व्यक्ति इन्द्रियों के 'हिंसक काम को अपनी ज्ञानाग्नि से भस्म कर पाते हैं, वे ही प्रभु के प्रिय बनते हैं। जब मन्त्रार्थ 'राज' परक होता है तब अर्थ यह होता है कि 'जो गोहिंसकों के हिंसक होते हैं वे मुझे प्रिय हैं'। राजा ने **'यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसोऽवीरहा'**=गौ, अश्व व पुरुषों के हिंसकों से राष्ट्र की रक्षा करनी है।

अपने जीवन पर पूर्ण नियमन करनेवाला 'यन्ता' ही 'वसिष्ठ' है, वशियों में श्रेष्ठ व उत्तम निवासवाला है। यह 'वसिष्ठ' ही प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम 'सूरि, यन्ता, मघवा व इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले' बनकर प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

स्नेह, दान, यज्ञ

श्रुधि श्रुत्कर्ण वह्निभिर्देवैरग्ने सयावभिः।
आ सीदन्तु बर्हिषि मित्रोऽअर्यमा प्रातर्यावाणोऽअध्वरम्॥१५॥

१. हे **श्रुत्कर्ण**=ज्ञान का विकीर्ण करनेवाले (श्रुत=ज्ञान, कर्ण=विकीर्ण करना) और इस प्रकार **अग्ने**=अग्रेणी प्रभो! **श्रुधि**=आप हमारी प्रार्थना को सुनिए। प्रभु ज्ञान को सदैव

प्रसृत कर रहे हैं। उस प्रसृत होते हुए ज्ञान को ग्रहण वही कर पाता है जिसका हृदय पवित्र होता है। इस पवित्र हृदय की प्रार्थना का स्वरूप है—२. **वह्निभिः**=(वह to carry) आप तक प्राप्त करानेवाले तथा **सयावभिः**=सदा साथ-साथ प्राप्त होनेवाले **देवैः**=देवों के साथ **बर्हिषि**=मेरे उस हृदय में, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो (बृहि वृद्धौ) बढ़ा हुआ है, अर्थात् विशाल है, उस हृदय में **प्रातः**=प्रातः **आसीदन्तु**=आकर विराजें। कौन?—(क) **मित्रः**=स्नेह की भावना (ख) **अर्यमा**=देने की भावना (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) (ग) हृदय 'बर्हि' तब कहलाता है जब इसमें से वासनाओं को उखाड़ फेंक दिया जाए और इसे तनिक विशाल बना लिया जाए। (घ) हमारे हृदयों में सभी के लिए स्नेह हो, परन्तु वह केवल शाब्दिक न होकर आर्थिक भी हो, अर्थात् हम दुःखी की सहायता के लिए कुछ-न-कुछ दें भी। प्रातः उठते ही हमारे अन्दर यज्ञिय कार्यों को करने की प्रवृत्ति हो। ४. उल्लिखित कामना करनेवाला ही 'प्रस्कण्व'=मेधावी है। बुद्धिमान् पुरुष सदा ऐसा ही बनना चाहता है और वस्तुतः वही प्रार्थना 'श्रुत्कर्ण' प्रभु को प्रिय लगती है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में स्नेह, दान व यज्ञोपस्थान की वृत्तियाँ हों।

ऋषिः—**गोतमः**। देवता—**अग्निः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

अदिति, अतिथि, अविता

विश्वेषामदितिर्यज्ञियानां विश्वेषामतिथिर्मानुषाणाम्।
अग्निर्देवानामवऽआवृणानः सुमृडीको भवतु जातवेदाः॥१६॥

१. (क) गत मन्त्र में 'हम यज्ञों में जानेवाले हों', इन शब्दों से प्रार्थना समाप्त हुई थी। इन **विश्वेषाम्**=सब **यज्ञियानाम्**=यज्ञ की वृत्तिवाले व्यक्तियों का वह प्रभु **अदितिः**=खण्डन न करनेवाला=शरीर को ठीक रखनेवाला है। वस्तुतः यज्ञिय भावना पुरुष को विलास से बचाकर स्वास्थ्य का धनी बनाती है। (ख) 'अदिति' शब्द का अर्थ 'अदीना देवमाता' भी है, न गिड़गिड़ानेवाली, अर्थात् आत्मसम्मान की भावना से युक्त और दिव्य गुणों का निर्माण करनेवाली। यज्ञिय वृत्ति होने पर दिव्य गुण पनपते हैं। २. वे प्रभु **विश्वेषाम्**=सब **मानुषाणाम्**=मनुष्यों का हित करनेवालों के **अतिथिः**=मेहमान व प्राप्त होनेवाले हैं। प्रभुभक्त वे ही हैं जो 'सर्वभूतहिते रत' हैं। मनुष्य-मनुष्य की सहायता करता है तो प्रभु उसके हृदय में आसीन होते हैं। प्रभु को पाने का उपाय जन-सेवा भी है। ३. मानवहित में लगा हुआ व्यक्ति देव बन जाता है और **देवानाम्**=इन देवों का **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **अवः**=रक्षण **आवृणानः** =करते हैं **४. जातवेदाः**=वे सर्वज्ञ प्रभु 'अदिति व मानुष' के लिए **सुमृडीकः भवतु**=उत्तम सुख प्राप्त करानेवाले हों। यज्ञिय, मानुष व देव बननेवाला व्यक्ति प्रशस्तेन्द्रिय होने से 'गोतम' कहलाता है। वही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ=हम यज्ञिय बनेंगे तो प्रभु हमारे लिए 'अदिति' होंगे। हम मानुष बनें प्रभु अतिथि होंगे। हम देव बनें प्रभु हमारा रक्षण करेंगे। वे जातवेद प्रभु हमें सदा सुख देते हैं।

ऋषिः—**लुशो धानाकः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

निष्पापता व कल्याण

महोऽअग्नेः समिधानस्य शर्मण्यनागा मित्रे वरुणे स्वस्तये।
श्रेष्ठे स्याम सवितुः सवीमनि तद्देवानामवोऽअद्या वृणीमहे॥१७॥

१. **महः अग्नेः**=उस महान्, अग्निवत् प्रकाशमय, दोषों के दहन करनेवाले प्रभु के

समिधानस्य=जिसे हमने अपने हृदयान्तरिक्ष में समिद्ध किया है, **शर्मणि**=शरण में **अनागाः**=हम निष्पाप बनते हैं। जिस समय हम प्रभु को अपने हृदयों में देखते हैं तो हमारा जीवन निष्पाप हो जाता है। क्या हम प्रभु के समीप पाप करेंगे? २. **मित्रे**=स्नेह की भावना होने पर, और **वरुणे**=द्वेष का निवारण करके हम **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होते हैं। मानवकल्याण तभी होता है जब द्वेष समाप्त हो जाए और प्रेम का प्रसार हो। ईर्ष्या-द्वेष मनुष्य के मन को जलाते रहते हैं। ३. द्वेषों से ऊपर उठकर सदा प्रेम में रहने के लिए आवश्यक है कि हम **सवितुः**=प्रेरक प्रभु की **श्रेष्ठे सवीमनि**=श्रेष्ठ प्रेरणा में **स्याम**=हों। अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनेंगे तो हम द्वेष से अवश्य दूर रहने का प्रयत्न करेंगे और सभी के साथ प्रेम से चल पाएँगे। ४. **तत्**=उस प्रेरणा को सुनने के द्वारा **देवानाम्**=देवों के **अवः**=रक्षण को **अद्य**=आज ही **वृणीमहे**=हम वरते हैं। जो प्रभु-प्रेरणा को सुनता है, वह सब वासनाओं से अपनी रक्षा कर पाता है। सब प्राकृतिक देव उसके अनुकूल होते हैं। ५. प्रभु की शरण में निष्पापता को सिद्ध करनेवाला, प्रेम व द्वेषाभाव से कल्याणी स्थितिवाला, सदा प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला और देवरक्षण का वरण करनेवाला, यह ऋषि अपने को सब वासनाओं से मुक्त करनेवाला (Loose=to release) और सद्गुणों से अपने को अलंकृत करनेवाला (लूष् to adorn) 'लुशः' नामवाला होता है और सब प्रकार से अपना धारण करनेवाला यह अपने में गुणों का आधान करता हुआ 'धानाकः' कहलाता है।

भावार्थ—हम निष्पाप बनें, कल्याण प्राप्त करें, प्रभु प्रेरणा में चलें, देवरक्षण को वरें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आप्यायन

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो॒ न गावो॒ नक्षन्नृतं ज॑रि॒तार॑स्तऽइन्द्र।
याहि वा॒युर्न नि॒युतो॑ नो॒ऽअच्छा॒ त्वꣳ हि धी॒भिर्दय॑से॒ वि वाजा॑न्॥१८॥

१. जब हम देववरण करके वासनाओं को दूर भगाते हैं तब **आपः**=रेतस् (आपः रेतो भूत्वा) **चित्**=निश्चय से **पिप्युः**=हमारा आप्यायन करते हैं। वीर्यशक्ति के द्वारा रोग कम्पित करके दूर भगा दिये जाते हैं। मन में दुर्भावनाएँ उत्पन्न नहीं होती। वीर्यरक्षा से सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनती हैं, परिणामतः **गावः**=हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ **न स्तर्यः**=(Sterilize) वन्ध्या नहीं होतीं, ये उपजाऊ होती हैं। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा इस वीर्य के द्वारा ही समिद्ध होती है। २. हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! सुरक्षित वीर्यवाले ये व्यक्ति **ते जरितारः**=तेरे स्तोता बनते हैं और **ऋतं नक्षन्**=ऋत को प्राप्त होते हैं। प्रभु-स्तवन करनेवाले व्यक्ति में सदा ऋत का अधिकाधिक पोषण होता है, सूर्य और चन्द्रमा की भाँति इसका जीवन-मार्ग बड़ा नियमित हो जाता है। ३. **वायुः न**=वायु के समान **नियुतः**=निश्चय से ऋतमय कर्मों में लगे हुए **नः अच्छ**=हमारी ओर **याहि**=प्राप्त होओ। वायु जैसे निरन्तर चल रही है, इसी प्रकार यह प्रभु का स्तोता निरन्तर कार्यों में लगा रहता है। इन निरन्तर क्रियाशील व्यक्तियों को प्रभु प्राप्त होते हैं। ४. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **धीभिः**=प्रज्ञानों व कर्मों से **वाजान्**=धनों व शक्तियों को **विदयसे**=विशेषरूप से देनेवाले होते हैं। हम प्रज्ञानों को प्राप्त करके उत्तम कर्मों में लगते हैं तो हमें धन भी प्राप्त होते हैं और शक्तियाँ भी। एवं, धनों व शक्तियों को प्राप्त करके अपने जीवन को उत्तम बनानेवाला यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है।

भावार्थ—हम रेतस्-रक्षा द्वारा अपना आप्यायन करनेवाले, शक्तिशाली ज्ञानेन्द्रियोंवाले, ऋत को प्राप्त, वायु की भाँति नियत कर्मों में व्याप्त, प्रज्ञानों व कर्मों से शक्ति व धनों को

प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्योतिर्मय कर्ण

गाव॒ऽउपा॑वताव॒तं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑। उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑॥१९॥

१. **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=हृदयान्तरिक्ष को, मेरी हृदयरूप गुहा को **उपावतम्**=(अव=भाग, वृद्धि) अपना भाग बनाओ—उसका सेवन करो और उसका वर्धन करो। वेदवाणियाँ हमारे हृदयों में स्फुरित हों। उनके स्फुरण से हमारे हृदय विशाल बनें। २. ये वेदवाणियाँ **मही**=महान् (पूजनीय) हैं अथवा हमारे हृदयों को महान् बनानेवाली हैं तथा **यज्ञस्य**=श्रेष्ठतम कर्मों का **रप्सुदा**=उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उपदेश दिया गया है। ३. इन वेदवाणियों से **उभा कर्णा**=हमारे दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हो उठे हैं। कानों में ज्ञान की वाणियों के प्रवेश से हमारा अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया है। इस अज्ञानान्धकार के नष्ट होने से प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि स्वार्थ-भावनाओं से ऊपर उठकर 'पुरुमीढ' बन गया है, बहुत का पालन-पोषण करनेवाला हो गया है। यह क्रियाशीलता के द्वारा सभी के सुखों को बढ़ानेवाला होने से 'अजमीढ' नामवाला बना है।

भावार्थ—हमारे हृदयों में वेदवाणी का प्रादुर्भाव हो। इन वेदवाणियों से हमारे हृदय विशाल बनें व यज्ञिय भावनावाले हों। हमारे कान सदा इन वाणियों के श्रवण से पवित्र व हितकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

ज्ञान-सूर्योदय

यद॒द्य सूर॒ऽउदि॒तेऽना॑गा मि॒त्रोऽअ॑र्य॒मा। सुवा॑ति सवि॒ता भगः॥२०॥

गतमन्त्र में वेदवाणियों से दोनों कानों के ज्योतिर्मय होने का उल्लेख था। उसी से प्रस्तुत मन्त्र को प्रारम्भ करते हैं कि १. **यत्**=यदि **अद्य**=आज **सूरे उदिते**=इस ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर मैं **अनागाः**=निष्पाप बनता हूँ, **मित्रः**=सबके साथ स्नेह की भावनावाला होता हूँ और **अर्यमा**=केवल शाब्दिक सहानुभूति न करके कुछ देनेवाला बनता हूँ (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) तो **सविता**=वह सब ऐश्वर्यों का स्वामी प्रभु **भगः सुवाति**=धन को मेरी ओर प्रेरित करता है, सब सुन्दर व भजनीय वस्तुओं को मुझे देता है। २. वेदवाणियों के सुनने से मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय होता है। जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञानसूर्य के उदय होने पर मानस पटल से सब मालिन्यरूप अन्धकार भाग जाता है और वह मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है। मन की पवित्रता मनुष्य को निष्पाप बना देती है (अनागाः)। ३. यह पाप-भावना से शून्य हृदय सबके प्रति स्नेहवाला होता है (मित्रः) इसमें किसी के प्रति द्वेष की भावना नहीं रहती। दुःखी व्यक्ति के साथ इस व्यक्ति की सहानुभूति केवल शाब्दिक नहीं होती। यह सहायतार्थ कुछ-न-कुछ देता ही है (अर्यमा)। इसकी सहानुभूति यथार्थ होती है। ४. सबकी सहायता के लिए धन का विनियोग करना होता है, अतः प्रभु इसको योग्य अधिकारी समझकर धन प्राप्त कराते हैं (सुवाति)। सब धन तो उस प्रभु का है, हमें तो उसका ठीक विनियोग करना होता है। करते हैं, तो परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते हैं। यह धनादि के लोभ में न फँसनेवाला व्यक्ति ही उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' कहलाता है।

भावार्थ—ज्ञान-सूर्योदय से हम निष्पाप, स्नेहमय व दातृत्व की भावनावाले बनकर प्रभु से दीयमान भग के पात्र बनें।

ऋषिः—**सुनीतिः**। देवता—**वेनः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वियोग-संयोग

आ सुते सिञ्चत श्रियꣳ रोदस्योरभिश्रियम्। रसा दधीत वृषभम्॥२१॥

गतमन्त्र में भावना थी कि दो और पाओ। दोगे, प्रभु तुम्हें देंगे। वही भावना प्रस्तुत मन्त्र में इस प्रकार कही जा रही है कि **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में ऐश्वर्य का लाभ होने पर **श्रियम्**=इस श्री को **आसिञ्चत** =चारों ओर सिक्त करो। यह अपने जीवन को विलासमय बनाने के लिए तुम्हें नहीं दी गई, यह प्रभु से लोकहित के लिए दी गई है। इस सम्पत्ति के दान द्वारा तुम **रोदस्योः**=द्यावापृथिवी में, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् में **अभिश्रियम्**=दोनों ओर—जीवनकाल में भी और मृत्यु के बाद भी (अभि) श्री को, शोभा को, **सिञ्चत**=सिक्त करो। **'जुहोत प्र च तिष्ठत'**=दो और प्रतिष्ठा पाओ, यह प्रभु स्पष्ट कह रहे हैं। मनुष्य श्री=धन का क्या सेचन करता है उसकी श्री=शोभा का ही सर्वत्र सेचन हो जाता है। अथवा द्युलोक व पृथिवीलोक में इस दान देनेवाले के लिए सर्वत्र धन की वर्षा होने लगती है। धन का त्याग करने से इसे और अधिक धन प्राप्त होता है।

३. धन-त्याग में एक अद्भुत आनन्द है। मनुष्य प्रकृति को छोड़ता है और प्रभु को पाता है। **रसाः** =हे आनन्द प्राप्त जीवो! तुम **वृषभम्**=उस शक्तिशाली व सब सुखों की वर्षा करनेवाले प्रभु का **दधीत**=धारण करो। प्रभु को अपनाने की नीति को अपनानेवाला 'सुनीति' है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—धन का दान देनेवाला व्यक्ति सर्वत्र यश प्राप्त करता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मैं को विस्तृत करना—विश्वरूप बनना

आतिष्ठन्तं परि विश्वेऽअभूषञ्छ्रियो वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णोऽअसुरस्य नामा विश्वरूपोऽअमृतानि तस्थौ॥२२॥

१. **आतिष्ठन्तम्**=जो केवल अपने में स्थित न होकर सबमें स्थित है (one who is not self-centred), उस सबमें—विश्व में 'मैं' की भावना करनेवाले को, **विश्वे**=सब दिव्य गुण **परि अभूषन्**=समन्तात् अलंकृत करते हैं। स्वार्थ ही मनुष्य को 'असुर'=राक्षस बना देता है। **'स्वेषु आस्येषु जुह्वतश्चेरुः'**=ये अपने ही मुख में आहुति देने लगता है तो असुर बन जाता है। स्वार्थत्याग से दुर्गुणों का त्याग होता है और यह परार्थ में रत व्यक्ति दिव्य गुणों से सुभूषित हो जाता है। २. दिव्य गुणों से सुभूषित होकर यह **श्रियः वसानः**=श्री का धारण करनेवाला बनता है, इसका जीवन श्रीसम्पन्न होता है। पिछले मन्त्रों में यही तो कहा था कि यह अपनी श्री का दान करनेवाला बनता है तो इसके लिए द्युलोक व पृथिवीलोक श्रीसम्पन्न हो जाते हैं। ३. श्रीसम्पन्न बनकर यह आराम में नहीं फँस जाता। यह **चरति**=गतिशील होता है। इसका जीवन सदा पुरुषार्थमय बना रहता है। वस्तुतः पुरुषार्थ ने ही इसे श्रीसम्पन्न बनाया था। ४. **स्वरोचिः**=इस पुरुषार्थी व परार्थी पुरुष का जीवन स्व=आत्मा की रोचिः=कान्तिवाला होता है। इसे आत्मतेज प्राप्त होता है अथवा इसकी शोभा अपने जीवन (स्व) से ही होती है, यह अपने बन्धुओं व किन्हीं अन्य सम्बन्धों के कारण यशस्वी हो,

ऐसी बात नहीं होती। ४. इस **वृष्णः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाले **असुरस्य**=प्राणसाधना के द्वारा (असवः प्राणाः) सब वासनाओं को दूर फेंकनेवाले (असु क्षेपणे) इस विश्वरूप बननेवाले का **तत् नाम**=यह यश **महत्**=महान् होता है। संसार में यह यश प्राप्त करता है। उस यश का यदि इसे कोई गर्व नहीं होता तो ५. **विश्वरूपः**=सारे संसार को ही 'मैं' के रूप में देखनेवाला 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनावाला यह **अमृतानि**=मोक्षसुखों में **आतस्थौ**=विराजमान होता है। आत्मा की दृष्टि से तो सब अमर हैं, यह बारम्बार जन्म न लेने से वस्तुतः ही अमर हो जाता है। सभी के साथ प्रेम करने के कारण यह इस मन्त्र का ऋषि 'विश्वामित्र' है।

भावार्थ—हम अपनी 'मैं' को विस्तृत करके विश्वरूप बनें और परिणामतः अमर हो जाएँ।

ऋषिः—**सुचीकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विश्वरूप प्रभु की उपासना

प्र वो॑ म॒हे मन्द॑मानाया॒न्धसोऽर्चा॑ वि॒श्वान॑राय विश्वा॒भुवे॑।
इन्द्र॑स्य॒ यस्य॒ सुम॑ख॒ꣳ सहो॒ महि॒ श्रवो॑ नृ॒म्णं च॒ रोद॑सी सप॒र्यतः॑॥२३॥

१. गतमन्त्र का विषय 'विश्वरूप' बनना था। प्रस्तुत मन्त्र में कहते हैं कि विश्वरूप बनने के लिए उस विश्वरूप प्रभु की उपासना करो। **वः**=तुम्हारे **महे**=महनीय, पूजनीय व महस्=शक्ति देनेवाले **मन्दमानाय**=अत्यन्त आनन्दस्वरूप **विश्वानराय**=सब मनुष्यों के स्वामी (विश्वे नरा यस्य)=किसी व्यक्ति व जातिविशेष से प्रेम न करनेवाले **विश्वाभुवे**=सम्पूर्ण विश्व में चारों ओर व्याप्त उस प्रभु के लिए **अन्धसः**=सोम के द्वारा, सोम के रक्षण से **प्र अर्च**=ख़ूब अर्चना करो। २. वे प्रभु (क) शक्ति देनेवाले हैं (ख) आनन्दमय होने से आनन्द प्राप्त करानेवाले हैं (ग) सब मनुष्यों का हित करनेवाले हैं (घ) सबमें व्याप्त होकर रह रहे हैं। इस प्रभु की उपासना से ही मनुष्य भी विश्वरूप बनता है। उपासना का साधन यह है कि हम प्रभु से दी गई सर्वोत्तम वस्तु सोम की रक्षा करें। इसकी रक्षा ही ब्रह्मचर्य है—'ब्रह्म की ओर चलना' है। ३. उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिसम्पन्न प्रभु की तू उपासना कर **यस्य**=जिसके **सुमखम्**=उत्तम यज्ञ—सृष्टिरूप यज्ञ को **सहः**=सहनशीलता को **महिश्रवः**=महनीय ज्ञान को **नृम्णम् च**=और बल को **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **सपर्यतः**=पूज रहे हैं। ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी, आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे उस प्रभु का ही स्तवन करते हैं। भक्त जीव भी अनुभव करते हैं कि वे प्रभु कितने सहनशील हैं और किस प्रकार उसके हृदय को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर रहे हैं। एवं, सारा प्राकृतिक जगत् व सम्पूर्ण चेतन जगत् प्रभु की ही महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। इस विश्वरूप प्रभु की उपासना से उपासक भी 'विश्वरूप' बनता है और सभी के साथ प्रेम से वर्तता हुआ 'सुचीक'=प्रभु का उत्तम सम्पर्क करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम विश्वरूप प्रभु की उपासना करें और स्वयं विश्वरूप बनकर अमरता का लाभ करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

जिनके प्रभु मित्र हैं

बृह॒न्निदि॒ध्मऽए॑षां॒ भूरि॑ शस्तं पृथु॒ः स्वरुः॑। येषा॒मिन्द्रो॒ युवा॒ सखा॑॥२४॥

१. **येषाम्**=जिनके **युवा**=दुरितों से दूर करके (यु=अमिश्रण) भद्रों से सम्पृक्त करानेवाले (यु=मिश्रण) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **सखा**=मित्र होते हैं **एषाम्**=इनकी **इध्मः**=ज्ञानदीप्ति **इत्**=निश्चय से **बृहत्**=बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है। प्रभु ज्ञान के पुञ्ज हैं, प्रभु का मित्र भी इस ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठता है। प्रभु अग्नि हैं, उनका उपासक जीव भी अग्नितुल्य होकर दीप्त हो उठता है। २. इन प्रभु-सखाओं का **भूरिशस्तम्**=कर्म अत्यधिक प्रशस्त होता है। 'भृ=धारणपोषण', इनके कर्म सदा धारण- पोषणात्मक होते हैं। निर्माण के कार्यों में लगे रहने से इनकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। ये हित करते हैं, लोक इनका गुणगान करता है। ३. इस प्रकार सदा लोकहित में लगे हुए इन लोगों का **स्वरुः**=त्याग (Sacrifice) **पृथुः**=अत्यन्त विशाल होता है। ये विश्वरूप होने से सारे विश्व के लिए त्याग करते हैं। ४. इस प्रकार ज्ञान से इसका मस्तिष्क उज्ज्वल हुआ है, कर्मों से हाथ पवित्र हो उठे हैं और त्याग ने इसके हृदय को चमका दिया है, वहाँ स्वार्थ का मालिन्य नहीं है, अतः मस्तिष्क, हाथ व हृदय—तीनों को दीप्त करके यह 'त्रिशोक' इस अन्वर्थ नामवाला हो गया है।

भावार्थ—ज्ञान से हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, पोषक कर्म हमारे हाथों को प्रशस्त करें और त्याग का भाव हमारे हृदयों को निष्कलंक बनाये।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

सोम से सोम की प्राप्ति

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ२॥ऽअभिष्टिरोजसा॥२५॥

प्रभु जीव को उपदेश देते हैं कि १. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **इहि**=क्रियाशील बन और **अन्धसः**=सोम से, शरीर में सुरक्षित वीर्यशक्ति से **मत्सि**=आनन्द का अनुभव कर। वीर्यरक्षा के लिए यहाँ दो साधनों की सूचना हुई है (क) एक, इन्द्रियों को वश में करना। उपस्थ के संयम के लिए जिह्वा का संयम आवश्यक है। (ख) दूसरा, क्रिया में लगे रहना। ऐसे जितेन्द्रिय, क्रियाशील लोग ही सोम का पान कर पाते हैं। २. इन **विश्वेभिः**=सब **सोमपर्वभिः**=सोम के पूरणों से हे जीव! तू **महान्**=बड़ा बन 'मह पूजायाम्'। तू प्रभु की पूजा करनेवाला हो। ३. **अभिष्टिः**=इस सुरक्षित सोम के द्वारा **ओजसा**=शक्ति से शरीर में रोगों पर आक्रमण करनेवाला हो। 'वीर्य' का तो अर्थ ही 'वि ईर'=विशेष रूप से कम्पित करनेवाला है। यह 'रोगों' का सर्वोत्तम औषध है। ४. वीर्य की रक्षा करनेवाले के हृदय में अशुभ भावनाएँ कभी नहीं जागती। यह सदा सभी की शुभकामना करता हुआ मधुर इच्छाओंवाला सचमुच 'मधुच्छन्दा' कहलाने के योग्य है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला व्यक्ति सदा प्रफुल्लित वदन (Smiling face) होता है, यह महान् बनता है, इसका दिल छोटा नहीं होता तथा साथ ही यह प्रभु का पुजारी होता है और शक्ति से रोगों पर आक्रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

राजा के कर्तव्य

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्द्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन् व्यꣳसमुशधग्वनेष्वाविर्धेनाऽअकृणोद्राम्याणाम्॥२६॥

१. राजनीति में उन्नति के विघातक तत्त्वों को 'वृत्र' कहते हैं। जैसे सूर्य के प्रकाश

को रोकने से **बादल** 'वृत्र' है, जिस प्रकार ज्ञान पर पर्दा डालने से **वासना** 'वृत्र' है, उसी प्रकार राष्ट्र की उन्नति में रुकावट डालनेवाले तत्त्व 'वृत्र' कहलाते हैं। जातीय विद्वेष फैलाकर उन्नति को रोकनेवाले साम्प्रदायिक Communalists 'वृत्र' हैं। **शर्धनीतिः**=शक्तिशाली नीतिवाला **इन्द्रः**=राजा **वृत्रम्**=इस उन्नति-विघातक तत्त्व को **अवृणोत्**=रोकता है। वस्तुतः साम्प्रदायिकता बढ़ने से राष्ट्र का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जाता है, अतः राष्ट्रीयता की रक्षा के लिए राजा को शक्तिशाली नीतिवाला बनना चाहिए। ढिल-मिल नीतिवाला शासन नहीं कर सकता। राजा के मौलिक गुण 'शौर्यं तेजः' हैं। २. **वर्पणीतिः**=(वर्प=praise) प्रशंसनीय नीतिवाला राजा **मायिनाम्**=जादूगरों के तमाशे आदि कार्यों को **प्र अमिनात्**=बहुत कम कर देता है, क्योंकि ये तमाशे लोगों की उत्पादक शक्ति को या उत्पादक घण्टों को कम कर देते हैं और लोगों की जेबों पर बोझ बनते हैं। ३. **व्यंसम्**=धोखेबाजों को राजा **अहन्**=वध दण्ड देता है, चूँकि समाज के ये सबसे बड़े अभिशाप होते हैं। ४. **उशधक्**=(उश+धक्=वश्-दह) दूसरों की सम्पत्ति की कामना करनेवालों को यह जला देता है। चोर-डाकूओं को तो राजा ने समाप्त करना ही है। इनके कारण औरों का धन ही नहीं जीवन भी असुरक्षित हो जाता है। ५. उन्नति के विघातक तत्त्वों को समाप्त कर राष्ट्र में **वनेषु**=ज्ञान की किरणों के निमित्त **राम्याणाम्**=ज्ञान के प्रचार से लोगों को आनन्दित करनेवालों की **धेनाः**=वाणियों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है, अर्थात् प्रेमपूर्वक प्रचार करनेवाले लोगों के द्वारा राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार करता है। ६. यह राजा प्रजामात्र का मित्र होता है, अतः 'विश्वामित्र' कहलाता है।

भावार्थ—राजा के पाँच कर्तव्य हैं। इन कर्तव्यों का पालन करनेवाला राजा ही राजा कहलाने के योग्य होता है।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

राजा स्वच्छन्द नहीं

कुतस्त्वमिन्द्र माहिनः सन्नेको यासि सत्पते किं तऽइत्था।
सं पृच्छसे समराणः शुभानैर्वोचेस्तन्नो हरिवो यत्तेऽअस्मे॥२७॥

१. राजा कितना भी अच्छा हो, उसे पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त नहीं। उसे मन्त्रियों से विचार करके ही कार्य करना चाहिए। **सत्पते**=सज्जनों के रक्षक! **इन्द्र**=ऐश्वर्यशाली राजन्! **माहिनः सन्**=पूज्य होता हुआ या शक्तिशाली mighty होता हुआ भी **त्वम्**=तू **कुतः**=क्यों **एकः यासि**=अकेला चलता है, अर्थात् जो मन में आता है वही कर देता है, मन्त्रियों से विचार नहीं करता। **ते**=तेरा **इत्था**=इस प्रकार चलना **किम्**=कुत्सित है। (स किं सखा=वह कुत्सित मित्र है)। २. **समराणः**=उत्तम गति करता हुआ तू **शुभानैः**=शुभ चाहनेवाले मन्त्रियों से **संपृच्छसे**=जिज्ञासा किया कर, इस प्रकार दोषों की सम्भावना कम हो जाती है। ३. हे **हरिवः**=उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाले राजन्! **यत्**=जो **ते**=तेरा विषय **अस्मे**=हममें निहित है **तत्**=उसे **नः**=हमें **वोचेः**=कहिए। जो विषय जिस-जिस मन्त्री का हो उसकी चर्चा उस-उस मन्त्री से करनी ही चाहिए। ४. उल्लिखत प्रकार से चलनेवाला राजा ही 'अगस्त्य'=पाप का संहार करनेवाला बनता है।

भावार्थ—राजा को कभी स्वच्छन्द न होना चाहिए। मन्त्रीपरिषद् से सलाह करके ही कार्य करना चाहिए।

ऋषिः—**गौरीवीतिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**।

जितेन्द्रियता व वेद-दोहन

आ तत्तऽइन्द्रायवः पनन्ताभि यऽऊर्वं गोमन्तं तितृत्सान्।
सकृत्स्वं ये पुरुपुत्रां महीꣳ सहस्रधारां बृहतीं दुदुक्षन्॥२८॥

'इन्द्र' शब्द का अर्थ राजा भी होता है, तो प्रसंगवश २६ व २७वें मन्त्र में राजा का उल्लेख करके फिर आत्मा के विषय में कहते हैं कि १. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आयवः**=गतिशील **ते**=वे मनुष्य **तत्**=तेरा **आपनन्त**=सर्वथा स्तवन करते हैं **ये**=जो **गोमन्तं ऊर्वम्**=इस इन्द्रियों के समूह को **अभि**=लक्ष्य करके **तितृत्सान्**=हिंसित करते हैं, अर्थात् जो इन्द्रियों को मार लेते हैं, वश में कर लेते हैं। इन्द्रियों को जीतना और प्रभु का स्तवन करना, इन दोनों बातों में भेद नहीं है। प्रभु इन्द्र हैं, हम भी इन्द्र=जितेन्द्रिय बनकर उस इन्द्र का स्तवन कर पाएँगे। २. हे प्रभो! आपकी स्तुति वे करते है जो **बृहतीम्**=वेदवाणी को, सर्वप्रकार की उन्नतियों के साधनभूत वेद को **दुदुक्षन्**=दोहते हैं। किस वेदवाणी को? (क) **सकृत्स्वम्**=एक ही बार जन्म देनेवाली को, या दूसरे शब्दों में पुर्नजन्म को रोकनेवाली को। इस वेदवाणी से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य बार-बार के जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। (ख) **पुरुपुत्राम्**=यह वेदवाणी पालन व पूरण के द्वारा (पृ) पवित्र करती है (पूः) और इस प्रकार मनुष्य की रक्षा करनेवाली होती है (त्र)। (ग) **महीम्**=यह महनीय है। इसका अध्येता भी महान् हो जाता है। (घ) **सहस्रधाराम्**=सहस्रों प्रकार से धारण करनेवाली है। सब प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान देकर यह हमारा धारण करती है। इस वाणी के अध्ययन से 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु व कीर्ति—सभी कुछ जीव को मिलता है। ३. इस वेद का दोहन करनेवाले को 'गौरीवीति'= सात्त्विक भोजनवाला तो होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना 'जितेन्द्रियता' व 'वेद-दोहन' से हुआ करती है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

वेदवाणी का भरण

इमां ते धियं प्र भरे महो महीमस्य स्तोत्रे धिषणा यत्तऽआनजे।
तमुत्सवे च प्रसवे च सासहिमिन्द्रं देवासः शवसामदन्ननु॥२९॥

१. हे **महः**=महान् प्रभो! **इमाम्**=इस **ते**=तेरी **महीम्**=महिमा को प्राप्त करानेवाली **धियम्**=बुद्धि को, प्रज्ञा व कर्मों की प्रतिपादक वेदवाणी को **प्रभरे**=मैं प्रकर्षेण अपने में भरता हूँ। गतमन्त्र में इस वेदवाणी के दोहन का उल्लेख हुआ था। 'दोहन' के स्थान में प्रस्तुत मन्त्र में 'भरण' शब्द आया है। बात एक ही है। दोहन प्रपूरण ही तो है (दुह प्रपूरणे)। २. **अस्य स्तोत्रे**=इस प्रभु के स्तोता के लिए **यत्**=जब **ते धिषणा**=तेरी बुद्धि **आनजे**=प्राप्त होती है। वेदवाणी को अपने अन्दर भरने का प्रथम परिणाम यह है कि प्रभु की वेदप्रतिपादित बुद्धि प्राप्त होती है। ३. **तम्**=उस **उत्सवे**=खुशी में **प्रसवे च**=और पीड़ा में भी **सासहिम्**=सहनेवाले, मन के स्वास्थ्य को न खोनेवाले **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **देवासः**=सब देव **शवसा**=शक्ति से **अनु**=निश्चय **अमदन्**=हर्षित करते हैं। इस अर्थ में निम्न बातें स्पष्ट होती हैं—वेदवाणी के दोहन से प्रभु की दी गई 'धी' को अपने में भरने से (क) मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है, (ख) सुख-दुःख में यह सम रहता

है, (ग) जितेन्द्रिय बनता है, (घ) देव इसके अनुकूल होते हैं, (ङ) इसे शक्ति प्राप्त होती है, (च) और इसका जीवन आनन्दमय होता है। ५. इस प्रकार वेदवाणी के दोहन से सब बुराइयों को समाप्त करनेवाला यह 'कुत्स' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि सचमुच कुत्स बनता है। (कुथ हिंसायाम्)।

भावार्थ—मैं वेदवाणी को अपने अन्दर भरनेवाला बनूँ, जिससे सम-दुःख-सुख बनकर आनन्दमय जीवनवाला हो सकूँ।

ऋषिः—**विभ्राट्**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराड्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

ज्ञान-सूर्य

विभ्राड् बृहत्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविंहुतम्।
वातजूतो योऽअभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति॥३०॥

१. पिछले मन्त्र में वेदवाणी को अपने में भरने का वर्णन था। यह पुरुष **विभ्राट्**=विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति से चमकता है (वि-भ्राज्) और इसका हृदय **बृहत्**=विशाल बनता है। 'विज्ञानमयकोश ज्ञान से जगमगाता हो और मनोमयकोश राग-द्वेष से ऊपर उठकर विशाल बन गया हो' तो वह जीवन कितना सुन्दर होगा! २. इन दोनों कार्यों के लिए यह **सोम्यम् मधु**=सोम-वीर्यरूप मधुरतम वस्तु का **पिबतु**=पान करे। इस सोम की रक्षा से ही ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और हृदय संकुचित भावनाओं से ऊपर उठता है। यह ज्ञान के सूर्य से चमकनेवाला विशाल हृदय पुरुष ३. **आयुः**=अपने सम्पूर्ण जीवन को, जिसको इसने **'अविंहुतम्'**=अकुटिल बनाया है **यज्ञपतौ**=यज्ञों के पति प्रभु में **दधत्**=धारण करता है। अपने सम्पूर्ण जीवन को प्रभु-अर्पण करता है। जब हम इस समर्पण की भावना से चलेंगे तब जीवन को अधिक-से-अधिक सरल बनाएँगे ही। **'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्'** सरलता ही ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग है। ४. समर्पण के लिए यह **वातजूतः**=वायु से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ, वायु की भाँति सरलता से कार्य करता है, वायु की भाँति औरों को जीवन देनेवाला होता है। शरीर में वायु के पुञ्ज प्राणों की साधना करता हुआ **यः**=यह **त्मना**=स्वयं **अभिरक्षति**=चारों ओर से अपनी रक्षा करता है, अर्थात् वासनाओं से अपने को बचाता है। प्राणसाधना से सब इन्द्रिय-दोषों का दहन हो जाता है। ५. यह **प्रजाः पुपोष**=उत्तम सन्तानों का पोषण करता है अथवा प्रजाओं का पालन करता है और **पुरुधा**=बहुत प्रकार से **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है। (क) ज्ञान के सूर्य से चमकता हो (विभ्राट्), (ख) मन की विशालता से शोभायमान हो (बृहत्), (ग) सोम्य मधु का पानकर यह नीरोग बनकर स्वास्थ्य की ज्योति से चमकता है। (घ) प्रभु के प्रति समर्पण से यह निराभिमानता के कारण सुशोभित हुआ, (ङ) प्राणसाधना से वासनाओं पर विजय से यह अलंकृत हुआ। (च) प्रजाओं के पोषण के कारण यह यश से उज्ज्वल हो उठा। एवं, सतत् उज्ज्वल होकर यह सचमुच 'विराट्' इस अन्वर्थक नामवाला बना।

भावार्थ—हम 'विराट्'=सर्वत्र दीप्तिवाले बनें।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

विश्व-दर्शन

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥३१॥

पिछले मन्त्र का 'विराट्' यहाँ 'प्रस्कण्व' 'अत्यन्त मेधावी' इस नाम से कहा गया है।

यह १. **उत्**=निश्चय से प्रकृति से ऊपर उठता है। उत्=out। यह प्रकृति के अन्दर उलझा नहीं रहता। २. प्रकृति से ऊपर उठकर **केतवः**=ये ज्ञानी लोग **त्यम्**=उस अव्यक्त प्रभु को जो **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक (जाते विद्यते) हैं तथा **देवम्**=दिव्य गुणों के पुञ्ज हैं और **सूर्यम्**=सदा हृदयस्थरूपेण उत्तम कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं (सुवति), उस प्रभु को ये विराट् व प्रस्कण्व लोग **वहन्ति**=धारण करते हैं। जैसे शरीर में प्राणों के संयम से ज्ञान-सूर्य का उदय होता है, जैसे सूर्य में मन का संयम करने से सम्पूर्ण भुवन का ज्ञान होता है, उसी प्रकार उस सूर्यरूप प्रभु का धारण करने से सम्पूर्ण देवों का ज्ञान हुआ करता है। २. **दृशे विश्वाय**=सम्पूर्ण विश्व का दर्शन करने के लिए ये ज्ञानी लोग प्रभु का धारण करते हैं। वस्तुतः प्रभु के ज्ञान में सब विज्ञान समा जाते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से ऊपर उठें, प्रभु को धारण करें, जिससे विश्व का दर्शन कर पाएँ।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

भुरण्यन् जन

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ२।ऽअनु। त्वं वरुण पश्यसि॥३२॥

१. प्रभु **पावक**=पवित्र करनेवाले हैं। गतमन्त्र में ब्रह्मज्ञान का उल्लेख था। यह ब्रह्मज्ञान मनुष्य के जीवन को पवित्र करता है। ब्रह्मदर्शन करने पर पाप सम्भव ही नहीं। पापों को दूर करके वे प्रभु अपने सखा जीव के जीवन को सुन्दर बनाते हैं, प्रभु वरुण हैं, क्योंकि द्वेषादि बुराइयों का वारण करके वे हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं। हे प्रभो! **येन चक्षसा**=जिस ज्ञान के द्वारा आप हमें पवित्र व श्रेष्ठ बनाते हैं, वह ज्ञान हमें प्राप्त कराइए। २. **भुरण्यन्तं जनान्**=इन औरों का भरण करनेवाले लोगों का हे **वरुण**=श्रेष्ठ व शरणीय प्रभो! **त्वम्**=आप **अनुपश्यसि**=पालन व पोषण Look after करते हो। मनुष्य साथी प्राणियों का ध्यान करता है तो प्रभु उस मनुष्य का ध्यान करते हैं। ३. मन्त्र का ऋषि प्रस्कण्व=अत्यन्त बुद्धिमान् है। वह वेद में आदिष्ट प्रभु की आज्ञाओं का पालन करता हुआ यज्ञमय जीवन बिताता है। (क) ज्ञान प्राप्त करता है (ख) अन्यों का भरण-पोषण करता है। (ग) द्वेष का निवारण करता है। इन सब बातों के परिणामस्वरूप प्रभु उसका ध्यान करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से हम अपने जीवन को पवित्र करें, लोकधारण करनेवाले बनें। तब वह प्रभु हमारा उसी प्रकार धारण व ध्यान करेंगे जैसे माता पुत्र का।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उपाय-चतुष्टय

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे॥३३॥

पिछले मन्त्र में प्रस्कण्व ने प्रभु से प्रार्थना की है कि हे प्रभो! आप मेरा ध्यान कीजिए। प्रभु उसे कहते हैं कि १. **दैव्यौ**=तुम दोनों पति-पत्नी दिव्य गुणोंवाले बने हो। यहाँ द्विवचन से यह भी संकेत है कि मनुष्य ने अकेले ही मुक्त नहीं होना, पति-पत्नी दोनों ने ही सम्मिलित रूप से अच्छा बनने का प्रयत्न करना है। २. **अध्वर्यू**=तुम दोनों (अध्वर-यु) अहिंसात्मक यज्ञों से अपने को जोड़नेवाले बनो। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। तुम्हारा कोई कार्य किसी की हिंसा का कारण न बने। ३. **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के समान त्वचावाले

इस शरीररूप रथ से **आगतम्**=तुम मेरे समीप आओ। यदि शरीर पूर्ण स्वस्थ रहता है तो इस रथ की आवरणभूत त्वचा सूर्य के समान चमकने लगती है। प्रभु-प्राप्ति के लिए जहाँ (क) दिव्यता (ख) यज्ञमयता आवश्यक हैं, वहाँ (ग) शरीर का स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है। ४. स्वस्थ शरीर के साथ माधुर्य भी अनिवार्य है। **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=यज्ञात्मक विष्णु को **समञ्जाथे**=तुम प्राप्त होओ (अञ्ज्=गति)। हमें दिव्य, अहिंसक, स्वस्थ बनकर पूर्ण मधुर बनना है, 'भूयासं मधुसंदृशः'=मैं मधु-जैसा ही हो जाऊँ।

सामान्यतः मनुष्य बाहर भागता रहता है, कोई विरला धीर पुरुष ही उस परमात्मा का वरण करता है। यह प्रभु का वरण करनेवाला ही 'वेन'=मेधावी है। इस वृत्ति के पति-पत्नी (क) दिव्य गुणों को अपनाने का प्रयत्न करते हैं (ख) अहिंसात्मक कर्मों में लगे रहते हैं, (ग) स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करके अपने शरीर-रथ को सूर्यत्वच बनाते हैं और (घ) अत्यन्त मधुर व्यवहारवाले होते हैं।

भावार्थ—दिव्यता, अहिंसा, स्वास्थ्य व माधुर्य—मनुष्य को प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ज्ञानयज्ञों का प्रस्ताव

आ नऽइडाभिर्विदथे सुशस्ति विश्वानरः सविता देवऽएतु।
अपि यथा युवानो मत्सथा नो विश्वं जगदभिपित्वे मनीषा॥३४॥

१. **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **इडाभिः**=वाणियों के द्वारा **सुशस्ति**=(सप्तमी का लुक्) उत्तम शंसन होने पर **विश्वानरः**=सबको उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाला **सविता**=सबका प्रेरक **देवः**=देव **नः**=हमें **आ** =सर्वथा **एतु**=प्राप्त हो। यदि हम घरों में ज्ञानयज्ञों की परिपाटी डालें, सब घरवाले उपस्थित होकर धर्मग्रन्थों का पाठ करें तो यह पाठ हमारी प्रवृत्ति को अवश्य प्रभु-प्रवण करेगा। २. इसका परिणाम **अपि**=यह भी होगा कि **नः युवानः**=हमारे नौजवान, तरुण **मत्सथा**=मत्त नहीं हो जाते। छोटी उमर में वासना का वेग होता ही नहीं, वृद्धावस्था में वह शान्तप्राय हो जाता है, यौवन ही क्षोभ की अवस्था है। इस ज्ञानयज्ञ के निरन्तर चलने से यौवन में भी जीवन-समुद्र क्षुब्ध न होकर शान्त रहता है। इस ज्ञानयज्ञ के होने पर ३. **विश्वं जगत् अभिपित्वे**=सम्पूर्ण जगत् की प्राप्ति में हम **मनीषा**=बुद्धि से चलते हैं। हमारी प्रत्येक वस्तु के लिए एक बुद्धिपूर्वक पहुँच wise approach होती है। हम किसी भी कार्य में नासमझी से प्रवृत्त नहीं होते। इसी का परिणाम होता है कि हम पापों में नहीं फँसते। यह पापों में न फँसनेवाला व्यक्ति ही 'अगस्त्य' है।

भावार्थ—हम अपने घर के सदस्यों को ज्ञानयज्ञों में प्रवृत्त करें और उनमें प्रभु की, ऋषियों की वाणियाँ पढ़ें तो हमारा झुकाव १. प्रभु की ओर रहेगा २. जीवन में मद न हो पाएगा तथा ३. प्रत्येक स्थिति में हम समझ से चलेंगे।

ऋषिः—**श्रुतकक्षसुकक्षौ**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रबल इच्छा

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगाऽअभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे॥३५॥

१. प्रभु ज्ञानयज्ञों का विस्तार करनेवालों से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=वासना को नष्ट करनेवाले **सूर्य**=ज्ञान-सूर्य के समान चमकनेवाले! तू **यत्**=जो **अद्य**=आज **कत् च**=या कभी

भी, जब भी **उत्**=प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी=प्रभु की ओर चल सकता है। इच्छा होनी चाहिए, इच्छा होने पर रास्ता निकल आता है। प्रकृति से ऊपर उठना कठिन है, परन्तु सकंल्प कर लेने पर कुछ कठिन नहीं रह जाता। क्रम यह है १. संकल्प २. ज्ञान-प्राप्ति, ज्ञान के सूर्य का उदय ३. वासना का विनाश ४. प्रभु की ओर चलना व प्रभु को पाना। २. मन्त्रार्थ इस रूप में भी ठीक है—हे वासनाओं को नष्ट करनेवाले! ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले इन्द्र! आज या कल जब भी तू प्रकृति से ऊपर उठकर मेरी ओर आता है **तत्**=तब **सर्वम्**=सब **ते वशे**=तेरे वश में हो जाता है। जिसने प्रभु को पा लिया, उसने सभी कुछ पा लिया।

ज्ञान-विज्ञान के सूर्य को अपने में उदित करनेवाले 'श्रुतकक्ष व सुकक्ष' प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि हैं। यह ज्ञान को ही अपनी शरण समझते है, श्रुत ही कक्ष है और यह ज्ञानरूप शरण कितनी उत्तम है? इसी से यह सुकक्ष है।

भावार्थ—हम अपनी इच्छा ज्ञानप्राप्ति की बनाएँ, उससे वासना का विनाश करके प्रभु की ओर चलें और प्रभु को पाकर ब्रह्माण्ड को वश में करनेवाले हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु का आदेश

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचनम्॥३६॥

१. गतमन्त्र में 'वृत्रहन्' व 'सूर्य' से प्रभु कहते हैं कि ब्रह्माण्ड तेरे वश में हो गया, दूसरे शब्दों में तूने सब-कुछ पा लिया, तूने अपने जीवन की साधना कर ली, परन्तु इतने से तू अपने को कृतकृत्य न समझ लेना। अपने आप सब-कुछ पाकर अब तूने—(क) **तरणिः**=नाव बनना है। नाव स्वयं तो पानी में डूबती ही नहीं, औरों को भी डूबने से बचाती है, तूने भी इसी प्रकार औरों को तारना है। अपने आप तर जाने में ही साफल्य नहीं है। (ख) **विश्वदर्शतः**=तूने सबको देखनेवाला बनना है, केवल अपने को नहीं। मोक्ष भी केवल अपने लिए नहीं चाहना। (ग) सभी को मोक्षमार्ग पर ले-जाने के विचार से हे **सूर्य**=स्वयं ज्ञानसूर्य के समान चमकनेवाले! तू **ज्योतिष्कृत् असि**=ज्योति को फैलानेवाला है। तू ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ज्ञान के प्रकाश को विकीर्ण करता है (घ) इस ज्ञान के विकिरण से तू **विश्वम् आभासि**=सारे संसार को सब ओर से दीप्त करता है। इस ज्ञान-विकिरण की क्रिया में तू **रोचनम्**=बड़ी रोचकता से कार्य करता है। तू ज्ञान के प्रचार में मधुर, श्लक्षण वाणी का प्रयोग करता है।

भावार्थ—हम तरणि बनें, नाव वही ठीक जो स्वयं नहीं डूबती और परिणामतः औरों को तराने का कारण बनती है।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

उपसंहार=Retirement

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्वितंतꣳ सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै॥३७॥

१. **तत्**=तभी **सूर्यस्य**=गतमन्त्र में वर्णित सूर्य का **देवत्वम्**=देवपन व **तत्**=तभी **महित्वम्**=बड़प्पन, महिमा होती है **यदा**=जब **मध्या कर्त्तोः**=कामों के बीच में **विततम्**=फैले हुए क्रिया-जाल को **संजभार**=मनुष्य संगृहीत करता है। संसार के कार्यभारों—व्यापार आदि

को समेटकर २. **यदा**=जब यह **इत्**=निश्चय से **सधस्थात्**=सदा साथ रहनेवाले प्रभु से **हरितः**=ज्ञान की रश्मियों को **अयुक्त**=अपने साथ जोड़ता है। मनुष्य कार्यों से निपटकर जब प्रभु के समीप बैठता है, तब उसे ज्ञानधन प्रभु की ज्ञानरश्मियाँ क्यों न दीप्त करेंगी? इन ज्ञानरश्मियों से द्योतित होकर ही यह 'देव'=चमकनेवाला बनता है। चमकने पर ही इसकी महिमा होती है। इस प्रकार यह देवत्व व महत्त्व को प्राप्त करता है। ३. **आत्**=अन्यथा, कार्यों का उपसंहार करके प्रभु की गोद में न बैठने पर **रात्री**=अज्ञानान्धकार **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः** =अन्धकारवस्त्र को **तनुते**=तान देती है, अर्थात् मनुष्य गरीब हुआ तो नमक-तेल-ईंधन की चिन्ता में और धनी हुआ तो रुपये-पैसे की चिन्ता में जीवन को बिता देता है। उसे ''कोऽहं कुत आजातः''='मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ' इन प्रश्नों के सोचने का समय ही नहीं मिलता। ४. इस अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला व्यक्ति ही 'कुत्स' है। यह 'कुथ हिंसायाम्' अज्ञान की हिंसा करने के लिए ज्ञान के सूर्य का अपने में उदय करता है। इस सूर्योदय के लिए ही लौकिक कार्यों से निवृत्त होकर प्रभु-चरणों में बैठता है।

भावार्थ—हम जीविका के कार्यों का उपसंहार करके सधस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें, जिससे हमपर अज्ञान का पर्दा न पड़ा रहे।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

स्वास्थ्य व सन्तोष

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥३८॥

१. **सूर्यः**=ज्ञान-सूर्य को अपने अन्दर उदित करनेवाला यह व्यक्ति **द्योः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **उपस्थे**=समीप, उसकी गोद में बैठता हुआ **मित्रस्य**=स्नेह की भावना को तथा **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की भावना को **अभिचक्षे**=एकत्व दर्शन के लिए **तत् रूपम्**=प्रकाश को अपने अन्दर **कृणुते**=करता है। (**रूपम्**=प्रज्ञानम्—नि० १०।१३)। ज्ञान का प्रथम परिणाम ही यह है कि मनुष्य द्वेष से ऊपर उठता है और स्नेह से वर्त्तता है। २. **अस्य**=ज्ञान के सूर्य से देदीप्यमान इस पुरुष का **पाजः**=बल **अनन्तम्**=बहुत अधिक होता है। **अन्यत्**=विलक्षण होता है और **रुशत्**=देदीप्यमान होता है। वस्तुतः प्रभु के सम्पर्क के कारण इसमें प्रभु की ही शक्ति काम करने लगती है, अतः इसकी शक्ति का असाधारण व विलक्षण प्रतीत होना स्वाभाविक ही है। ३. **हरितः**=इसकी ये ज्ञानरश्मियाँ (इस सूर्य के ये अश्व) **अन्यत्**=एक विलक्षण ही **कृष्णम्**='कृषिर्भूवाचकः शब्द, णश्च निर्वृतिवाचकः' भू और निर्वृति, स्वास्थ्य और सन्तोष को **संभरन्ति**=सबके अन्दर भरती हैं। सूर्योदय होता है और उसकी किरणें सबमें प्राणशक्ति का सञ्चार करती हैं, इसीप्रकार इस कुत्स की जो ज्ञान का सूर्य बन गया है, ज्ञानकिरणें सभी को स्वास्थ्य व सन्तोष देनेवाली होती हैं। 'कृष्णम्' शब्द का अर्थ आकर्षण भी है। इसकी ये ज्ञानकिरणें बड़े आकर्षक ढंग से लोगों में ज्ञान भरती हैं। यही भावना ३६वें मन्त्र में 'रोचनम्' शब्द से कही गई थी।

भावार्थ—हम प्रभु का उपस्थान करते हुए ज्ञान प्राप्त करें और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनें। तेजस्वी बनें और औरों को भी ज्ञान देनेवाले बनें।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जगदग्नि का प्रभु-स्तवन=द्रष्टा व श्रोता

बण्महाँ२॥ऽअसि सूर्य बडादित्य महाँ२॥ऽअसि।
महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ२॥ऽअसि॥३९॥

१. जब प्रभु के चरणों में बैठकर ज्ञानप्राप्त करने का उपक्रम होगा, तब गतमन्त्र के अनुसार 'द्योरुपस्थे' अवश्य ही एक दिन हम प्रभु का साक्षात्कार करेंगे। साक्षात्कार करने के कारण प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है। 'जमदग्निर्वै चक्षुः' इस वाक्य के अनुसार जमदग्नि चक्षु है, जो देखता है। उस प्रभु को देखने पर यह अनुभव करता है कि प्रभु कितने महान् है। उसके मुखसे निम्न वाक्य उच्चरित होने लगते हैं—२. **सूर्य**=हे सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं, अतएव पूजनीय हैं (मह पूजायाम्)। प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। ३. उस प्रकाशमय प्रभु ने इस सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किया हुआ है 'आदानात् आदित्यः'=इस आदान के कारण ही वे प्रभु आदित्य हैं। सारे ज्योतिर्मय पदार्थ उनके गर्भ में है, तभी तो वे 'हिरण्यगर्भ' कहलाये हैं। ब्रह्माण्ड ही अनन्त-सा प्रतीत होता है, परन्तु इतना विशाल संसार प्रभु के एक देश में ही है **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'**। प्रभु कितने महान् हैं? जमदग्नि कहता है कि हे **आदित्य**=सभी को गर्भ में धारण करनेवाले प्रभो! **बट्**=सचमुच आप **महान् असि**=बड़े हैं। ४. यह जमदग्नि उस प्रभु को, जो इन सूर्य आदि को भी तेजस्विता प्राप्त करा रहे हैं (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) एक तेज के पुञ्ज के रूप में देखता है और कहता है कि **महः**=तेज के पुञ्ज के रूप में **सतः**=होते हुए **ते**=आपकी तेजस्विता से प्रभावित मेरी वाणी आपकी **महिमा पनस्यते**=महिमा की स्तुति करने लगती है। सूर्यादि सभी को तेजस्वी बनानेवाले वे सचमुच तेज के पुञ्ज ही हैं। यह तेज मुझे भी तेजस्वी बनाता है और मेरी वाणी आपका स्तवन करने लगती है। ५. हे **देव**=सब देवताओं को देवत्व प्राप्त करानेवाले दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच **महान् असि**=महान् है। सब देव महान् हैं, प्रभु तो देवों के भी देव, देवाधिदेव हैं। वे तो महतो महान् हैं। ६. एवं, जमदग्नि प्रभु को 'महान्' देखता है। वे प्रभु क्यों महान् हैं, क्योंकि वे (क) सूर्य हैं, (ख) वे आदित्य हैं, (ग) वे महस् हैं, (घ) वे देव हैं। वस्तुतः महान् बनने के ये ही चार उपाय हैं। हमें भी महान् बनने के लिए सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनना होगा।

(क) हम अपना खाली समय ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति में बिताएँ और इस प्रकार अपने मस्तिष्करूप गगन में ज्ञान के सूर्य का उदय करने का प्रयत्न करें। (ख) हम अपनी 'मैं' को विशाल बनाएँ कि हमारी 'मैं' में परिवार, कुल, प्रान्त व देश ही नहीं, वसुधा भी समा जाए। **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** हमारा जीवनध्येय बन जाए। (ग) हम मात्रा में भोजन का स्वीकार करते हुए संयमी जीवन बनाकर तेजस्वी बनें। और (घ) अन्त में हम देव बनें। देव बनने के लिए द्वेष को हृदय में आने से रोकें (वरुण) सबके साथ स्नेह करें (मित्र) तथा यथोचित आर्थिक सहानुभूति भी दर्शाएँ (अर्यमा)। इन तीन बातों से हम दिव्य गुणों को अवश्य अपना पाएँगे। एवं सूर्य, आदित्य, महस् व देव बनकर हम प्रभु का सच्चा स्तवन कर पाएँगे।

भावार्थ—हम ज्ञान प्राप्त करें, उदार हृदय बनें, तेजस्विता की साधना करें, और दिव्य गुणों को अपनाने के लिए प्रयत्नशील हों।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

अदाभ्य ज्योति

बट् सूर्य श्रवसा महाँ२॥ऽअसि सत्रा देव महाँ२॥ऽअसि।
मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम्॥४०॥

१. स्तवन करते हुए जमदग्नि कहते हैं कि हे **श्रवसा सूर्य**=ज्ञान से सूर्य के समान चमकनेवाले प्रभो! आप **बट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। २. **सत्रा**=सचमुच ही **देव**=हे दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! **महान् असि**=आप महान् हैं। ३. हे प्रभो! आप ही **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवानाम्**=सब देवों के **असुर्यः**=(असून् राति, तेषु साधु) उत्तम प्राणशक्तिदाता हैं। सूर्यादि देवों में अपना देवत्व थोड़े ही है। इन सबका देवत्व इन्हें प्रभु से ही प्राप्त हो रहा है **'तेन देवा देवतामग्रमायन्'**। सूर्यादि सब देदीप्यमान पिण्ड प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहे हैं। विद्वान्, बलवान् व तेजस्वी पुरुष भी प्रभु से ही बुद्धि, बल व तेजस्विता प्राप्त कर रहे हैं, ४. **पुरोहितः**=ये प्रभु पुरोहित हैं, सब देवों से पूर्व विद्यमान हैं 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'। सबसे पूर्व विद्यमान होते हुए ही ये उन सब देवों को देवत्व प्राप्त करा रहे हैं। सब जीवों के लिए प्रभु एक पुरोहित (model=आदर्श) के रूप में हैं, जिनके अनुसार जीव ने अपने जीवन को बनाना होता है। ५. वे प्रभु **विभु ज्योतिः**=एक व्यापक प्रकाश हैं जोकि **अदाभ्यम्**=न दबने योग्य हैं। सूर्य निकलता है और तारों का प्रकाश दब जाता है। 'इस प्रकार प्रभु का प्रकाश किसी अन्य प्रकाश से दबेगा' यह बात नहीं है। वे प्रभु तो एक न दबनेवाला प्रकाश है। इसी अदाभ्य ज्योति को हमने भी प्राप्त करना है, इसको प्राप्त करके हम उस महान् प्रभु के सच्चे उपासक बनेंगे। ज्ञान जितना व्यापक (विभु) हो उतना ही ठीक। व्यापक ज्ञान ही उन्नति के मन्दिर की दृढ़ नींव बनता है।

भावार्थ—मैं देव बनूँ, जिससे प्रभु मुझमें प्राणशक्ति का सञ्चार करें और मैं एक अदाभ्य ज्योतिवाला बन जाऊँ।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

साम्यवाद "In the sweat of thy labour"=स्वेदस्य

श्रायन्तऽइव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत।
वसूनि जाते जनमानऽओजसा प्रति भागं न दीधिम॥४१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृ-मेध' है, जो सब नरों से मिलकर चलता है (मेध=संगम)। 'यह अकेला खाएगा' यह कैसे हो सकता है! इसका विचार है कि **सूर्यम् इव**=सूर्य की भाँति **श्रायन्तः**=(to sweat, to perspire) श्रम के कारण पसीने से तर-बतर होते हुए **विश्वा इत्**=सभी प्राणी **इन्द्रस्य**=उस प्रभु से दिये गये भोजन का **भक्षत**=भक्षण करें।

इस मन्त्रार्थ में यह बात स्पष्ट है—(क) सबने अधिक-से-अधिक श्रम करना है, और (ख) अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार सबने भोजन प्राप्त करना है। वस्तुतः राष्ट्र को इस प्रकार के नियम बना देने चाहिएँ कि कोई व्यक्ति बिना कर्म किये न खा सके और कोई भी कर्म करनेवाला अपनी आवश्यकताओं को न पा सके, यह न हो। २. हम **ओजसा**=शक्ति के द्वारा **जाते**=धनों के उत्पन्न होने पर और **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धनों में **वसूनि**=धनों को **भागं न**=सेवनीय भाग के अनुसार **प्रतिदीधिम**=प्रत्येक व्यक्ति के लिए धारण करें। अपनी शक्ति के अनुसार हम कमाएँ, परन्तु उसे सारा अपने पर व्यय करने के

स्थान में भाग के अनुसार सबको दें। घर में यह साम्यवाद कितना सुन्दर चलता है। पिता कमाता है, वह कम खाता है, परन्तु न कमानेवाला बच्चा सबसे अधिक खाता है। एवं, घर में ये दोनों सिद्धान्त कार्य करते दिखते हैं। (क) काम सब शक्ति के अनुसार करते हैं और (ख) खाते सब आवश्यकतानुसार हैं। यही दो सिद्धान्त सारे राष्ट्र में लागू हों तो न राष्ट्र निर्धन हो और ना ही कोई भूखा मरे।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम श्रमशील हों, उत्पन्न धनों को सबके साथ बाँटकर खाएँ, धनों को प्रभु का समझें।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चैक का कैश होना

अद्या देवाऽउदिता सूर्यस्य निरꣳहसः पिपृता निरवद्यात्।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवीऽउत द्यौः॥४२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुत्स' है। यह वासनाओं को ('कुथ हिंसायाम्') कुचल डालता है, इसके जीवन का यही ध्येय बनता है। यह प्रार्थना करता है कि **देवाः**=हे देवो! अथवा हे दिव्य वृत्तियो! **अद्य**=आज **उदिता सूर्यस्य**=सूर्योदय होते ही **अंहसः**=कष्ट व पीड़ा से **निःपिपृत**=हमें पार ले-चलो। **निः अवद्यात्**=पीड़ा से दूर करने के लिए हमें निन्द्य पापों से बचाओ। (क) 'पीड़ा से दूर होना, (ख) पीड़ा से दूर होने के लिए पापों से ऊपर उठना' यह है कुत्स का निश्चय। इस निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए उसका मुहूर्त कल का नहीं है, आज ही और अभी सूर्योदय के समय ही। यह कुत्स कल-कल की उपासना नहीं करता।

२. **नः**=हमारे **तत्**=इस संकल्प को **मित्रः**=स्नेह का देवता **वरुणः**=द्वेषनिवारण का देवता **अदितिः**=अखण्डन व स्वास्थ्य का देवता **सिन्धुः**='एतैरिदं सर्वं सितं तस्मात् सिन्धवः'=जिससे ये पाँच भूत बद्ध (integrated) हैं, वह सोमशक्ति **पृथिवी**=(प्रथ विस्तारे) विस्तार व उदारता **उत**=और **द्यौः**=दिव्=प्रकाश=मस्तिष्क की उज्ज्वलता व ज्ञान की देवता—ये सब **मामहन्ताम्**=आदृत करें।

बैंक में जैसे एक चैक आदृत हो जाता है, अर्थात् केश कर दिया जाता है उसी प्रकार कुत्स का 'पीड़ा व पाप से दूर होने का निश्चय' ही एक चैक है। उस चैक का आदर मित्रादि देवों के बैंक ने करना है। इन देवों के बैंक में हमारा क्रेडिट=पूँजी होगी तभी चैक आदृत होगा, अतः हमें 'स्नेह व द्वेषराहित्य, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' इन गुणों का बैंक बनने का प्रयत्न करना है। इन्हीं का आदान-प्रदान करनेवाला होना है। इन पाँच का विकास करनेवाले ही 'पञ्चजन' हैं।

भावार्थ—कुत्स ऋषि वह है जो 'स्नेह व निर्द्वेषता, स्वास्थ्य, सोम, उदारता व प्रकाश' का पुञ्ज बनने का प्रयत्न करता है। इसी से वह 'पञ्जजन' कहलाएगा।

ऋषिः—**हिरण्यस्तूपः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

ऊर्ध्व रेतस् बनना=हिरण्यस्तूप

आ कृष्णेन रजसा वर्त्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥४३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अपनी पाँच वस्तुओं का विकास करके, विकास ही नहीं

अपितु विकास के मूलभूत सोम की रक्षा करके प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'हिरण्यस्तूप' बना है (हिरण्यं वीर्यम् स्तूप=to raise), शक्ति की ऊर्ध्वगति करनेवाला हुआ है। इसके जीवन में निम्न बातें होती है। १. यह **आकृष्णेन**=आकर्षक अथवा (कृषिर्भूवाचकः णश्च निर्वृतिवाचकः) स्वास्थ्य व सन्तोष का सञ्चार करनेवाले **रजसा**=(रजः कर्मणि) कर्मसमूह के साथ **वर्त्तमानः**=वर्त्तमान होता है। इसका कार्य स्वास्थ्य व सन्तोष को फैलाना होता है, और अपने इस कार्य को यह बड़ी मधुरता से करता है। २. **अमृतं मर्त्यं च**=(क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते) अपने क्षरांश इस पाँचभौतिक शरीर को और अक्षरांश कूटस्थ आत्मतत्त्व को **निवेशयन्**=निश्चय से स्वस्थान में निविष्ट करनेवाला होता है। सामान्य भाषा में यह शारीरिक व आत्मिक दृष्टिकोण से स्वस्थ बनने का प्रयत्न करता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होता हुआ ही यह स्वास्थ्य का सञ्चार कर पाता है। मानस व आत्मदृष्टि से सन्तुष्ट यह सन्तोष को फैलाता है। स्वयं स्वस्थ व सन्तुष्ट ही तो औरों को स्वस्थ व सन्तुष्ट बना सकता है। ३. यह **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला हिरण्यस्तूप ऋषि **देवः**=स्वयं दिव्य गुणोंवाला बनता है और **हिरण्येन रथेन**=ज्योतिर्मय रथ से चलता है। ज्ञान को बढ़ाकर स्वयं प्रकाशमय बनकर, यह औरों को भी मार्गदर्शन करने में समर्थ होता है। मन में दिव्यता और मस्तिष्क में ज्योति को लेकर जब यह प्रजा का नेतृत्व करने चलता है तब उनको भटकाने का कारण नहीं बन जाता। ४. स्वस्थ शरीर, दिव्य मन व उज्ज्वल मस्तिष्क को पाकर ही यह स्वयं को कृतकृत्य नहीं मान बैठता, अपितु यह **भुवनानि पश्यन्**=सब भूतों का ध्यान करता हुआ (Looking after all) **याति**=चलता है। अथवा **याति**=प्रभु की ओर बढ़ता है, सर्वभूतहिते रतः ही प्रभु का सच्चा भक्त होता है।

भावार्थ—हम हिरण्यस्तूप बनकर शरीर व आत्मा को स्वस्थ रखते हुए प्रजाओं में भी स्वास्थ्य को फैलाने का प्रयत्न करते हुए प्रभु की ओर चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वसिष्ठ—उत्तम जीवन

प्र वावृजे सुप्रया बर्हिरेषामा विश्पतीव बीरिटऽइयाते।
विशामक्तोरुषसः पूर्वहूतौ वायुः पूषा स्वस्तये नियुत्वान्॥४४॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वसिष्ठ है, उत्तम निवासवाला। इसके जीवन की निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. **प्रवावृजे**=यह वासनाओं का स्वयं ही वर्जन करता है, काम-क्रोध आदि का अपने को शिकार नहीं होने देता। २. **सुप्रया**=इस उद्देश्य से यह सात्त्विक अन्नवाला होता है, अथवा उत्तम प्रयत्नवाला होता है (प्रयस् =अन्न, प्रयत्न) ३. **एषां बर्हिः**=इसी से इनका हृदय बर्हि बनता है, जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है तथा जो अत्यन्त बृंहित=बढ़ा हुआ, विशाल बना है। ४. **आविश्पती इव**=यह समन्तात् प्रजाओं का रक्षक-सा बनता है। विशाल व निर्वासन हृदयवाला बनकर यह सभी का हित साधन करता है। ५. ऐसे अच्छे, आकर्षक (आकृष्णेन, रोचनम्) ढंग से प्रचार करता है कि यह **विशाम्**=प्रजाओं के **बीरिटे**=हृदयान्तरिक्ष में **इयाते**=पहुँच जाता है (Touches their heart), उनको अपनी बात अच्छी प्रकार हृदयंगम करा देता है। ४. **अक्तोः**=रात्रि के तथा **उषसः**=उषाकाल के **पूर्वहूतौ**=प्रथम पुकार में, अर्थात् सायं व प्रातः की प्रार्थना में यह आराधना करता हुआ कहता है कि मैं (क) **वायुः**=वायु की भाँति सदा गतिशील बनूँ, **पूषा**=सूर्य की भाँति सब प्रजाओं में प्राण का सञ्चार करूँ (ग) **नियुत्वान्**='नियुत्' शब्द

वायु के घोड़ों के लिए प्रयुक्त होता है। जीवात्मा 'वायु' है **'वायुरनिलममृतम्'**। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं। मैं उत्तम इन्द्रियरूप अश्वोंवाला बनूँ। यह उत्तम इन्द्रियाँश्वोंवाला ही अपनी जीवन-यात्रा उत्तम ढंग से पूर्ण कर पाता है। इसप्रकार मैं **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति के लिए होऊँ। मेरा कल्याण हो, मैं औरों का कल्याण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन निर्वासन (वासनारहित), सात्त्विक व पवित्र हृदयवाला हो। मैं लोकसंग्रह करता हुआ लोगों के हृदयों तक पहुँचने का प्रयत्न करूँ। प्रातः-सायं यही आराधना करूँ कि—मैं क्रियाशील, पोषण करनेवाला व उत्तम इन्द्रियोंवाला बनकर उत्तम स्थिति में होऊँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

दिव्य गुणों का आराधन

इन्द्रवायू बृहस्पतिं मित्राग्निं पूषणं भगम्। आदित्यान्मारुतं गणम्॥४५॥

१. पिछले मन्त्र की समाप्ति पर कहा था कि रात्रि व उषा के प्रारम्भ में प्रथम पुकार (प्रार्थना) के समय 'वायु व पूषा' को पुकारते हैं। उसी प्रार्थना को कुछ विस्तार से प्रस्तुत मन्त्र में करते हैं। 'मेधातिथि' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है—जीवन-यात्रा में समझदारी से चलनेवाला। यह प्रातः-सायं निम्न देवों का आराधन करता है १. **इन्द्रवायू**=मैं इन्द्र और वायु को पुकारता हूँ। 'इन्द्र', अर्थात् इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ, ऐश्वर्यशाली बनूँ (इदि परमैश्वर्ये) मेरे कर्म शक्तिशाली हों (सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य) वायु बनूँ (वा गतिगन्धनयोः), निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा बुराई का संहार करनेवाला बनूँ। ३. **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारता हूँ। बृहस्पति ऊर्ध्वा दिशा का अधिपति है। मैं भी उन्नति के शिखर पर पहुँचता हूँ। बृहस्पति देवगुरु हैं। मैं भी ज्ञानियों का गुरु, ज्ञानियों का भी ज्ञानी, उत्कृष्ट ज्ञानी बनता हूँ। ४. **मित्राग्निम्**=मित्र और अग्नि को पुकारता हूँ। (मित्रः प्रमीतेः त्रायते) अपने को मृत्यु व पाप से बचाता हूँ और इस प्रकार आगे बढ़ता हूँ (अग्निः अग्रेणीः)। मित्र शब्द की भावना (मिद् स्नेहने) स्नेह करने की भी है। उन्नति-पथ वस्तुतः प्रेम-पथ ही है। ५. **पूषणं भगम्**=मैं पूषा व भग को पुकारता हूँ। अपना पोषण करके औरों के भी पोषण के लिए प्रयत्नशील होता हूँ। पोषण के लिए भग (ऐश्वर्य) को बाँटता हूँ। पोषण के लिए पर्याप्त धन से अधिक धन की कामना नहीं करता हूँ। ६. **आदित्यान्**=मैं आदित्यों को पुकारता हूँ। 'आदानात् आदित्यः' आदित्य वे हैं जो अपनी 'मैं' में सभी को समाविष्ट कर लेते हैं। उदार-हृदय बनकर मैं वसुधा को कुटुम्ब समझने का प्रयत्न करता हूँ। इस हृदय की विशालता के लिए ही ७. **मारुतं गणम्**=प्राणसमूह को पुकारता हूँ। वस्तुतः प्राणसाधना से ही हृदय निर्द्वेष व विशाल बनेगा।

भावार्थ—मैं प्राणसाधना के द्वारा इन्द्र, वायु, बृहस्पति, मित्र, अग्नि, पूषन्, भग व आदित्य को अपने अन्दर धारण करता हूँ।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**वरुणः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

निर्वैरता व स्नेह=वरुण व मित्र द्वारा सुराधाः बनना

वरुणः प्राविता भुवन्मित्रो विश्वाभिरूतिभिः। करतां नः सुराधसः॥४६॥

१. 'वरुण' देवता वारण करती है, द्वेषादि को हृदयों में उत्पन्न नहीं होने देती। द्वेषादि को हृदय में आने से रोककर यह हमारे हृदय को मलिन होने से बचाती है। **वरुणः**=वरुण

प्राविता=रक्षक **भुवत्**=हो। २. 'मित्र' स्नेह करने की देवता है। 'हम द्वेष न करें' इतना ही नहीं, हम परस्पर प्रेम करनेवाले बनें। मित्र का अर्थ यास्क 'प्रमीतेः त्रायते' भी करते हैं, पापों व रोगों से बचाता है, अतः **मित्रः**=यह मित्र देवता **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब संरक्षणों के द्वारा हमें पाप व रोग से बचानेवाला हो। ३. 'वरुण और मित्र' ये दोनों देव एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। 'द्वेष न करना' एक पहलू है 'स्नेह करना' दूसरा। एवं, वरुण और मित्र मिलकर **नः**=हमें इस संसार में **सुराधसः**=उत्तम साफल्यवाला (राध=सिद्धि) **करताम्**=करें। ५. गतमन्त्र का ऋषि 'मेधातिथि' था। वही प्रस्तुत मन्त्र का भी ऋषि है। संसार में समझदारी से चलना (मेधया अतति) ही मेधातिथि बनना है। मन के स्वास्थ्य को न खोने के कारण यह अपने कार्यों में सफलता प्राप्त करता है और सचमुच 'सुराधाः' बनता है।

भावार्थ—'वैर न करना और स्नेह से चलना' जीवन को सफल करना है।

ऋषिः—**कुसीदी**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**स्वराडार्चीगायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

प्रभु के साथ सजात्य

अधि न इन्द्रैषां विष्णो सजात्यानाम्। इता मरुतोऽअश्विना॥४७॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'कुसीदी' (कौ सदति) पृथिवी पर स्थिरता से चलनेवाला है, हवा में उड़नेवाला नहीं, हवाईकिले बनानेवाला नहीं, और इसीलिए यह 'कुस संश्लेषणे' प्रभु से आलिंगन करनेवाला सचमुच 'कुसीदी' बन पाता है। यह कहता है—२. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! सर्वैश्वर्यशाली प्रभो! **विष्णो**=हे सर्वव्यापक परमात्मन्! आप **नः**=हम **सजात्यानाम्**=समान जातिवालों के **अधि**=अधिष्ठाता हैं। हम आपके सजात्य हैं। आपकी भाँति हम भी चेतन हैं। आपमें और हममें बड़े-छोटे का ही अन्तर है, हम आत्मा हैं तो आप परमात्मा। हम सजात्यों के आप अधिष्ठाता हैं। २. कुसीदी की इस बात को सुनकर प्रभु कहते हैं कि **मरुतः**=मितराविणः=अरे भाई! कम बोलनेवाले होकर, रिश्तेदारी की दुहाई न देते हुए, हम प्रभु के रिश्तेदार है, ऐसा घमण्ड न करते हुए **अश्विना**=प्राणापान की साधना के द्वारा **इत**=मुझे प्राप्त होओ। प्रभु के नाते का राग आलापने से यह उत्तम है कि हम शोर न मचाते हुए संयत वाणीवाले होकर प्राणसाधना करें और प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। इस प्राणसाधना से ही असुर नष्ट-भ्रष्ट होंगे। अन्य इन्द्रियों को असुर पराजित कर लेते हैं, अतः उनसे प्रभु का उपासन नहीं चल पाता। प्रभु की उपासना प्राणों से ही होगी।

भावार्थ—हम प्रभु से अपना सजात्य अनुभव करें और वासनाओं में फँसने को अपनी शान के विरुद्ध समझें।

ऋषिः—**प्रतिक्षत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

चतुर्दश रत्न

अग्नऽइन्द्र वरुण मित्र देवाः शर्द्धः प्र यन्त मारुतोत विष्णो।
उभा नासत्या रुद्रोऽअध ग्नाः पूषा भगः सरस्वती जुषन्त॥४८॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'प्रतिक्षत्र' है—प्रत्येक अङ्ग को क्षत (हानि) से बचानेवाला। यह प्रार्थना करता है कि **प्रयन्त**=प्रकर्षेण प्राप्त हों, इसकी ओर आएँ। कौन-कौन? १. **अग्ने**=हे अग्ने! तुम मुझे प्राप्त होओ, अर्थात् मेरे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो। मैं 'अग्रेणीः' होऊँ। 'उन्नति Progress' यह मेरे जीवन का मूलमन्त्र हो। २. **इन्द्र**=हे इन्द्र! तुम मुझे प्राप्त

होओ। (क) मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँ (ख) मैं शक्तिशाली बनूँ, (ग) मैं ऐश्वर्य प्राप्त करूँ। उन्नति के लिए ये तीनों बातें आवश्यक हैं। धन के बिना भी उन्नति सम्भव नहीं होती। ३. **वरुणः**=मैं वरुण को प्राप्त करूँ। विघ्नों का वारण करनेवाला बनूँ। सबसे महान् विघ्न ईर्ष्या-द्वेष हैं, इन्हें मैं रोकूँ। मेरे हृदय में ईर्ष्या का प्रवेश न हो पाये। ४. **मित्र**=हे मित्र! आप मुझे प्राप्त होओ। मैं जीवन-यात्रा में सबके प्रति स्नेह से चलूँ। अपने को पापों से बचाऊँ (प्रमीतेः त्रायते), हिंसा की वृत्ति को दूर रक्खूँ। ५. **देवाः**=हे देवो! मेरी ओर आओ मैं दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला बनूँ। ६. **शर्धः**=शक्ति मुझे प्राप्त हो। दिव्य गुणों को शक्ति से ही पाऊँगा। वीरत्व ही Virtue है और वीर न बनना ही evil है। ७. **मारुत**=हे मारुत! मेरी ओर आओ। मैं मितरावी बनूँ। वस्तुतः दिव्य गुणों से अपने को परिपूर्ण करके मैं मितरावी बन जाऊँगा। ८. **विष्णो**=हे विष्णो! मेरी ओर आओ। दिव्य गुणों को अपने में भरकर मैं व्यापक व विशाल मनोवृत्तिवाला बनूँ। मेरी 'मैं' में सारी वसुधा समा जाए।

९. **उभा नासत्या**=दोनों अश्विनीदेव=प्राणापान **जुषन्त**=मेरा सेवन करें। मैं प्राणापान की साधना करूँ। इस साधना ही ने मेरे हृदय को निर्मल व विशाल बनाना है। १०. **रुद्रः**=रुद्र मेरा सेवन करें। मैं रुद्र की भाँति प्राणापान की साधना करके असुरों के लिए प्रलय करनेवाला हो जाऊँ। इस प्राणापान से टकराकर ही असुर नष्ट-भ्रष्ट हुए थे। 'रुत्+र' का अभिप्राय उपदेश देनेवाला भी है। वह हृदयस्थ प्रभु मुझे उपदेश दें। प्राणापान की साधना से निर्मलहृदय प्रभुवाणी को सुनेगा ही।

११. **अध ग्नाः**=अब देवपत्नियाँ अथवा वेदवाणियाँ मेरा सेवन करें। देवपत्नियाँ देवों की शक्तियाँ ही है। पत्नी=शक्ति। घर में भी पत्नी ही वस्तुतः पति की शक्ति होती है। १२. **पूषा**=पूषा, अर्थात् सूर्यदेव मेरा सेवन करें और प्राणशक्ति के पोषण का कारण बने। १३. **भगः**=(भज सेवायाम्) सेवनीय धन मुझे प्राप्त हो। सब प्रकार के पोषण के लिए धन की आवश्यकता होती है। १४. **सरस्वती**=ज्ञान की देवता मेरा सेवन करे। मैं ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। वस्तुतः ज्ञान ने ही मेरे ऐश्वर्य पर कुछ प्रतिबन्ध रखना है, अन्यथा ऐश्वर्य तो वासनासक्ति का कारण बन जाता है। यहाँ मन्त्र में ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रथम देवता 'अग्नि' है और अन्तिम 'सरस्वती' दोनों को मिलाकर देखें तो भावना यह है कि उन्नति का मूलमन्त्र ज्ञान है। उन्नति की चरमावधि ज्ञान की परिनिष्ठा में ही है।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मैं ज्ञानी बनूँ और इस ज्ञान से ऐश्वर्य का सदुपयोग करनेवाला होऊँ, तभी मुझे मन्त्रोक्त चौदह रत्नों की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**वत्सारः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**।

देवताओं का आवाहन

इन्द्राग्नी मित्रावरुणादितिꣳ स्वः पृथिवीं द्यां मरुतः पर्वताँ२॥ऽअपः।
हुवे विष्णुं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं भगं नु शꣳसꣳसवितारमूतये॥४९॥

मन्त्र का ऋषि 'अवत्सार' है, अवत्सार ही प्रथमाक्षर के उच्चारण न होने पर वत्सार भी कहा जाता है। यह सारभूत वस्तु सोम की रक्षा के कारण 'अवत्सार' हुआ है। यह अवत्सार **हुवे**=आवाहन करता है, पुकारता हैं, किनको—१. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि को। इन्द्र बल की देवता है तो अग्नि प्रकाश की। मैं बल भी प्राप्त करूँ और प्रकाश भी। क्षत्र

भी, ब्रह्म भी। शक्ति व ज्ञान दोनों का मेरे जीव में समन्वय हो। २. **मित्रावरुणा**=मैं स्नेह की देवता को पुकारता हूँ और निर्द्वेषता व ईर्ष्या आदि के निवारण का प्रयत्न करता हूँ। मैं सभी के साथ स्नेह से चलूँ, किसी से द्वेष न करूँ। उन्नति के मार्ग में द्वेष सर्वमहान् विघ्न है। ३. **अदितिम्**=मैं अदिति को पुकारता हूँ। मेरे जीवन में खण्डन न हो। मैं स्वस्थ बनूँ। वस्तुतः स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है और स्वस्थ शरीर व मन में ही बल, ज्ञान, स्नेह व निर्द्वेषता का निवास होता है। ४. स्वास्थ्य के लिए मैं **स्वः**=स्वयं राजमानता, अदासता को पुकारता हूँ, मैं इन्द्रियों का दास नहीं बनता। इन्द्रियों की दासता ही हमें विलासमय बनाकर रोगाभिभूत कर देती है। ५. **पृथिवीं द्याम्**=मैं पृथिवी व द्यौ को पुकारता हूँ। पृथिवी (प्रथ विस्तारे) विशालता का प्रतीक है और द्यौ प्रकाश का। मेरा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क ज्ञान से जगमगाता हो। ६. इस विशालता व प्रकाश को अपने में लाने के लिए **पर्वतान्**=पर्वतों को पुकारता हूँ (पर्व पूरणे अपने में शक्ति के भरने का प्रयत्न करता हूँ। यह शक्ति व ज्ञान को अपने में भरना ही 'ब्रह्मचर्य' है। इस ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को भी दूर किया जाता है। ८. ब्रह्मचर्य के लिए व शक्ति को व्यर्थ न होने देने के लिए मैं **अपः**=कर्मों को पुकारता हूँ। मेरा जीवन कर्ममय होता है। कर्म में लगा हुआ व्यक्ति वासनाओं का शिकार नहीं होता। ९. शक्ति को भरके मैं **विष्णुम्**=विष्णु को पुकारता हूँ। विष्णु धारक देवता है। मैं धारण करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै विष्णुः'=मेरा जीवन यज्ञमय होता है। १०. **पूषणम्**=पूषा को पुकारता हूँ। अपना पोषण करते हुए सभी का पोषण करता हूँ। सूर्य के समान सभी में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला बनता हूँ। ११. **ब्रह्मणस्पतिम्**=पोषण-क्रिया में ग़लती न हो जाए, अतः मैं ज्ञान के पति को पुकारता हूँ, अधिक-से-अधिक ज्ञानी बनने का प्रयत्न करता हूँ। १२. **भगम्**=इस लोकहित में परतन्त्र न हो जाने के लिए भग को, ऐश्वर्य की देवता को पुकारता हूँ। ऐश्वर्य के बिना मैं अपना भी धारण न कर सकूँगा औरों का हित कर सकने का प्रश्न ही नहीं रहता। १३. **नु**=अब मैं **शंसम्**=शंसन को पुकारता हूँ, सभी का शंसन करता हूँ। किसी के लिए निन्दात्मक शब्दों का प्रयोग नहीं करता। १४. **सवितारम्**=अन्त में सविता को पुकारता हूँ। सविता प्रेरक है। मैं भी प्रेरणा देनेवाला बनता हूँ और इस प्रकार अपने जीवन को इन देवताओं से युक्त करके **ऊतये**=रक्षा के लिए समर्थ होता हूँ।

भावार्थ—इन्द्र और अग्नि आदि देवताओं का आवाहन करता हुआ मैं अपने जीवन की रक्षा करनेवाला बनता हूँ।

ऋषिः—**प्रगाथः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

तप+धन

अस्मे रुद्रा मेहना पर्वतासो वृत्रहत्ये भरहूतौ सजोषाः।
यः शꣳसते स्तुवते धायि पज्रऽइन्द्रज्येष्ठाऽअस्माँ२॥ऽअवन्तु देवाः॥५०॥

१. **अस्मे**=हममें **रुद्राः**=रुद्र **मेहना**=(धननाम—नि० ४.४) धन और **पर्वतासः**=शक्ति का पूरण हो। रुद्र तपस्या का प्रतीक है। रुद्र प्राण हैं। इनकी साधना करनेवाला भी रुद्र बनता है और शत्रुओं को रुलानेवाला होता है, परन्तु इस संसार में केवल तप से कार्य नहीं चलता। तपस्या यदि आत्मा व मन के बल को प्राप्त कराती है तो धन होने पर शरीर व मन दोनों सबल बन पाते हैं। दूसरे शब्दों में शक्तियों का पूरण तप व धन से साध्य हो जाता है। २. तप, धन व शक्ति का पूरण—ये **सजोषाः**=समानरूप से हमारा सेवन करनेवाले

होकर **भरहूतौ**=संग्राम की पुकार होने पर **वृत्रहत्ये**=वृत्र के विनाश में निमित्त बनते हैं। यह वृत्र और इन्द्र का संग्राम ही अध्यात्म व सात्त्विक संग्राम है। इसमें विजय पाने के लिए आवश्यक है कि हम तपस्वी हों, शरीररक्षा के लिए पर्याप्त धनवाले हों और अपने में शक्ति का सञ्चय करें। ३. **यः पज्रः**=जो बल **शंसते स्तुवते**=शंसन व स्तवन करनेवाले के लिए होता है, वह बल हममें **धायि**=धारण किया जाए। हम किसी व्यक्ति की निन्दा न करें और प्रभु का सदा स्तवन करनेवाले बनें। ऐसा करने पर हमें बल की प्राप्ति होगी। **इन्द्र-ज्येष्ठाः**=इन्द्र है ज्येष्ठ जिनमें वे **देवाः**=सब देव **अस्मान् अवन्तु**=हमारी रक्षा करें। वस्तुतः सब देवों का रक्षण तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य किसी की निन्दा नहीं करता और खाली समय को प्रभु-स्तवन में बिताता है। अपने समय को प्रभु-स्तवन में बितानेवाला यह व्यक्ति 'प्रगाथ' इस अन्वर्थक नामवाला है। प्रकृष्ट-गायन करनेवाला। इस प्रभु-गायन से ही इसे वह शक्ति प्राप्त होती है जो इसे संग्राम में काम-क्रोधादि शत्रुओं का विनाश करने के योग्य बनाती है।

भावार्थ—हम तपस्वी बनें। धन को एकदम हेय न समझ लें। धनी बनकर तप को न छोड़ दें (विलासी न बन जाएँ)। यह मार्ग हमें वह शक्ति प्राप्त कराएगा जिससे हम वासना का विनाश कर पाएँगे।

ऋषिः—**कूर्मः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

काम, क्रोध, लोभ व अभिमान का विजय

अर्वाञ्चोऽअद्या भवता यजत्राऽआ वो हार्दि भयमानो व्ययेयम्।
त्राध्वं नो देवा निजुरो वृकस्य त्राध्वं कर्त्तादवपदो यजत्राः॥५१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि कूर्म है—निरन्तर—क्रियाशील। क्रियाशीलता के कारण ही यह सबका धारण करनेवाला बनता है और स्वयं को शक्तिशाली बनाता है। यह सब देवों से प्रार्थना करता है—हे **यजत्राः**=यज्ञ के द्वारा त्राण करनेवाले देवो! **अद्य**=आज **अर्वाञ्चः**=हमारे समीप **भवत**=प्राप्त हानेवाले होओ। मनुष्य यज्ञशील होता है तो बुराइयों से बचा रहता है, जितना-जितना बुराइयों से दूर होता है, उतना-उतना देवों के समीप होता है। २. जब मनुष्य संसार में इस दिव्यता के मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग पर चलता है तब प्रारम्भ में कुछ चमक लगने पर भी पीछे अन्धकार-ही-अन्धकार दिखता है और यह 'कूर्म' देवों से कहता है कि मैं **भयमानः**=डरता हुआ-सा **हार्दि**=हृदय से **वः**=आपके प्रति **आ व्ययेयम्**=सर्वथा आता हूँ। देवशून्य संसार में आसुर राज्य चलता है और उसमें एक-से-एक बढ़कर बलवाले निर्बलों को समाप्त करते हुए चलते हैं। वहाँ घात-ही-घात दृष्टिगोचर होता है, अतः कल्पना करके भी डर लगता है, इसीलिए इन असुरों से घबराकर मनुष्य फिर देवों की शरण में चलता है। ३. हे **देवाः**=देवो! **नः**=हमें **निजुरः**=निश्चय ही जीर्ण करनेवाली इस कामवासना से **त्राध्वम्**=बचाओ। **वृकस्य**=(वृक आदाने) इस आदान-ही-आदान (ला-ला) की भावनावाली लोभवृत्ति से भी हमें बचाओं। ४. **कर्तात्**=अपने आधार को ही छिन्न-भिन्न करनेवाले इस क्रोध से **त्राध्वम्**=बचाओ और हे **यजत्राः**=यज्ञों के द्वारा त्राण करनवाले देवो! **अवपदः**=नीचे की ओर ले-जानेवाले, अर्थात् पाँवों तले कुचलनेवाले इस अभिमान से भी **त्राध्वम्**=रक्षा कीजिए। अभिमान सदा पतनोन्मुख है pride goeth before a fall. इस अभिमान से आप हमारी रक्षा कीजिए। वस्तुतः कूर्म=क्रियाशील व्यक्ति ही काम, क्रोध व अभिमान पर विजय पा सकता है।

भावार्थ—हम सदा यज्ञशील बनें और यज्ञों द्वारा वासनाओं से दूर रहें।

ऋषिः—**लुशः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

प्राण, अग्नि, देव, धन व शक्ति

विश्वेऽअद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समिद्धाः।
विश्वे नो देवाऽअवसा गमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजोऽअस्मे ॥५२॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'लुश' है 'लुनाति, श्यति' वासना का छेदन-भेदन करता है और बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाता है। यह प्रार्थना करता है—१. **अद्य**=आज **विश्वे मरुतः**=सब प्राण हमें प्राप्त हों। मुख्यरूप से प्राण के पाँच भेद हैं फिर उनके अवान्तर भेद होकर इनकी संख्या ४९ हो जाती है। ये सब-के-सब प्राण मेरे जीवन में ठीक कार्य करें। ये **विश्वे**=सब प्राण **ऊती**=(ऊत्या) रक्षा के हेतु से हमें प्राप्त हों। २. प्राणों के कार्य के ठीक होने पर **विश्वे अग्नयः**=सब अग्नियाँ **समिद्धाः**=हममें समिद्ध **भवन्तु**=हों। (क) स्वास्थ्य की भी एक अग्नि है, शरीर का स्वास्थ्य एक विशेष तापमान पर आश्रित है। तापमान कम होने पर निर्बलता घेर लेती है। उचित से अधिक तापमान ज्वर का चिह्न है, उस समय यह अग्नि रोगकृमियों व मलों से युद्ध कर रही होती है। युद्ध में कुछ गर्मी बढ़ ही जाती है। (ख) दूसरी अग्नि हृदय की है, जो प्रेम के रूप में प्रकट होती है। यही मर्यादा से बढ़कर 'कामाग्नि' का रूप धारण कर लेती है। (ग) तीसरी अग्नि 'ज्ञानाग्नि' है यह कामना को भस्मकर, कर्मों को पवित्र किया करती है। ये सब-की-सब अग्नियाँ प्राणों का कार्य ठीक होने पर समिद्ध रहती हैं और हमारे जीवन में शरीर, मन व मस्तिष्क की दीप्ति का कारण बनती हैं। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'लुश' का नाम अन्वर्थक हो जाता है। ३. इन अग्नियों के समिद्ध होने पर हे **देवाः**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभो! **विश्वे**=सब देव **अवसा**=रक्षण के हेतु से **नः**=हमें **गमन्तु**=प्राप्त हों। सब अग्नियों के ठीक होने पर हमारा शरीर देवों का निवास-स्थान बनता है। ४. अब **विश्वम्**=सब **द्रविणम्**=धन संसार के निर्वाह के लिए आवश्यक सम्पत्ति (द्रविण=द्रु गतौ=जिससे कार्य सुचारुरूपेण चले) और **वाजः**=बल **अस्मे**=हमारे लिए हो। सम्पत्ति को प्राप्त करके हम 'कुबेर'=कुत्सित शरीरवाले व निर्बल न बन जाएँ। धन में आसक्त हो जाने पर निर्बल ही नहीं, मनुष्य मनुष्य ही नहीं रह जाता। उसकी सब अच्छाइयाँ समाप्त हो जाती है, अतः धन के साथ 'वाज' को जोड़ दिया गया है। 'वाज' शक्ति का वाचक तो है ही, इसका अर्थ त्याग भी है। हम इस धन को सदा त्यागपूर्वक उपभोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम अपने जीवन को प्राणसाधना से प्रारम्भ करें, इससे हममें स्वास्थ्य, प्रेम व ज्ञान की अग्नियाँ समिद्ध होंगी। ये हमें दिव्य बनाएँगी और हम जीवन के लिए आवश्यक धन का अर्जन करते हुए उसमें आसक्त न होंगे।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

मेरा हृदय देवासन बने

विश्वेदेवाः शृणुतेमꣳ हवं मे येऽअन्तरिक्षे यऽउप द्यवि ष्ठ।
येऽअग्निजिह्वाऽउत वा यजत्राऽआसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥५३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'सुहोत्र' है—सु-होत्र, जिसने उत्तम हवन किया है। इसने गत मन्त्र में 'लुश' के रूप में सभी वासनाओं को जला दिया और अब अपने जीवन-यज्ञ की

वेदि को पवित्र बनाकर यह देवों से कहता है—**विश्वेदेवाः**=सब देवो! **मे**=मेरी **इमम्**=इस **हवम्**=पुकार को **शृणुत**=सुनो। हे देवो! **ये**=जो **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में हो **ये**=जो **उपद्यवि**=द्युलोक के समीप **स्थ**=हो **उत**=और **ये**=जो **अग्निजिह्वाः**=अग्नि को अपना वक्ता (Spokesman) बनाये हुए पार्थिव देव हो **वा**=अथवा **यजत्राः**=आप सब जो यज्ञों के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हो, वे **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=निर्वासन व विशाल हृदयान्तरिक्ष में **आसद्य**=बैठकर **मादयध्वम्**=मेरे जीवन को आनन्दमय बनाओ। २. 'ये पृथिव्यां एकादशस्थ, ये अन्तरिक्ष एकादशस्थ, ये दिवि एकादशस्थ' इन शब्दों में वेद ३३ देवों का संकेत कर रहा है। ११ पृथिवीस्थ देव हैं, ११ अन्तरिक्षस्थ और ११ द्युलोक के देव हैं। द्युलोकस्थ देवों का मुखिया सूर्य है, अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु व विद्युत् है और पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि है। प्रस्तुत मन्त्र में अन्तरिक्ष व द्युलोक का तो स्पष्ट उल्लेख है, पृथिवीस्थ देवों को 'अग्निजिह्वा' शब्द से याद किया गया है, उनका अग्नि मानो वक्ता है। पृथिवीस्थ देवों का मुखिया अग्नि ही तो है। ३. **बर्हिः**=वेद में स्थान-स्थान पर हृदय को बर्हिः नाम से सूचित किया गया है। इस शब्द में मूलभावनाएँ दो हैं। (क) जहाँ से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, वह वासनारहित हृदय ही 'बर्हिः' है। (ख) 'बृहि वृद्धौ' से बनकर यह शब्द यह भावना दे रहा है कि वह हृदय 'बर्हिः' है, जो विशाल है, बढ़ा हुआ है।

४. इस हृदय में हम सब देवों का आमन्त्रण करते हैं। वास्तव में तो वासनओं को निकाल देने पर देव उस खाली स्थान को भरने के लिए स्वयं आ ही जाते हैं। देवों के लिए पवित्रस्थान बनाने के लिए ही हृदय का मार्जन किया गया है। जब हृदय के अन्दर दिव्य भावनाएँ आती हैं तब वहाँ प्रकाश व आनन्द का होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—हम 'सुहोत्र' बनकर अग्निकुण्ड में सब वासनाओं को भस्म कर दें और अपने हृदय को देवासन बनाकर आनन्द का लाभ करें।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

वामदेव को प्रभु का प्रसाद

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्यो ऽमृतत्वꣳ सुवसि भागमुत्तमम्।
आदिद्वामानꣳ सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः॥५४॥

१. पिछले मन्त्र की भावना के अनुसार अपने हृदय को देवासन बनाकर सुहोत्र अब 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बन गया है। प्रभु 'सविता' हैं (षु प्रसवैश्वर्ययोः), सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले हैं और यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य उन्हीं प्रभु का ही है। हे **सवितः**=आप ही देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु इन देवों को क्या-क्या प्राप्त कराते हैं, यह देखिए। २. **देवेभ्यः**=देवताओं के लिए **हि**=निश्चय से **यज्ञियेभ्यः**=जिन्होंने अपना जीवन यज्ञमय बनाया है **प्रथमम्**=सबसे पहले **अमृतत्वम्**=अमृतत्व, रोगराहित्य को **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। ये यज्ञमय जीवनवाले देव रोगों का शिकार नहीं होते। रोग का सम्बन्ध भोग के साथ है **'भोगे रोगभयम्'**। यज्ञमय जीवन के साथ तो अमरता का ही सम्बन्ध है। यज्ञिय जीवनवाले देव रोगाक्रान्त नहीं होते। २. जहाँ देवों को रोगशून्यता व उत्तम स्वास्थ्य मिलता है, वहाँ साथ ही उस उत्तम स्वास्थ्य को स्थिर रखने के लिए **उत्तमं भागम्**=उत्तम भजनीय-सेवनीय धन **सुवसि**=प्राप्त कराते हो। धन को 'भग' कहते हैं। समूचा धन यदि 'भग' है, तो उसमें से मुझे प्राप्त हानेवाला अंश ही मेरा 'भाग' है। वह सवितादेव इन यज्ञशील देवों को सात्त्विक, अकुटिल मार्ग से प्राप्त होनेवाला धन देते हैं।

३. **आत् इत्**=धन के साथ आप इन देवों को **दामानम् व्यूर्णुषे**=उदरबन्धन से आच्छादित करते हैं। इनका जीवन बड़ा संयत होता है। पेट पर मानो ये रस्सी बाँधे रखते हैं। ये दामोदर ही तो संयत जीवनवाले होते हैं। इन यज्ञिय देवों को प्रभु धन के साथ संयम शक्ति भी प्राप्त कराते हैं। ये धनों से भोगों के भोगने में नहीं लग जाते। उदर पर दाम बाँधे रखते हैं। ४. इस प्रकार **मानुषेभ्यः**=इन मनुष्यमात्र का हित करनेवाले संयमी जीवनवाले पुरुषों के लिए **जीविता**=जीवन के साधन (यैः जीवति तानि जीवितानि) **अनूचीना**=अनुकूल होते हैं। जब मनुष्य अपने जीवन को सुन्दर बनाने में लगता है तब प्रभु उसे अनुकूल जीवन-साधन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम वामदेव बनें ताकि प्रभु से प्रसाद के रूप में अमृतत्व=स्वास्थ्य, उत्तम धन, संयम व अनुकूल जीवन प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**ऋजिश्वः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

निःश्रेयस+अभ्युदय=धर्मः

प्र वायुमच्छा बृहती मनीषा बृहद्रयिं विश्ववारꣳ रथप्राम्।
द्युतद्यामा नियुतः पत्यमानः कविः कविमियक्षसि प्रयज्यो॥५५॥

१. गतमन्त्र का वामदेव सदा सरल मार्ग से चलता है, अतः वह प्रस्तुत मन्त्रों में ऋजिश्वः=ऋजुमार्ग से गति करनेवाला हो जाता है। (ऋजु+श्वि=गति)। देवता धनार्जन न करते हों, यह बात नहीं, परन्तु ये धर्नाजन में कभी कुटिल उपायों का अवलम्बन नहीं करते, सदा सरलमार्ग से धन कमाते हुए ये धन तो प्राप्त करते ही हैं, परन्तु साथ ही ये प्रभु को भूल नहीं जाते। इनकी बुद्धि आत्मतत्त्वप्रवण रहती है। ये अपने जीवन में निःश्रेयस व अभ्युदय दोनों का ही साधन करते हैं। २. यह ऋजिश्व कहता है कि हे प्रभो! आपने हमें मनीषा=बुद्धि दी है। यह सचमुच 'मनसः ईष्टे'=मन की ईश बने, मन का शासन करनेवाली बने और इस प्रकार बृहती (बृहि वृद्धौ) हमारी वृद्धि—सर्वतोमुखी उन्नति का कारण हो। ये मेरी **बृहती मनीषा**=वृद्धि के लिए दी गई बुद्धि **वायुम् अच्छ प्र** (सरतु) आत्मतत्त्व की ओर चले। 'आत्मा' शब्द अत सातत्यगमने से बना है तो 'वायु' शब्द=वा गतौ से बनकर उसी मूल भावना को व्यक्त कर रहा है। 'वायुः अनिलम् अमृतं, अथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्' इस मन्त्र में भी नश्वर शरीर के विरोध में अनश्वर आत्मा को वायु शब्द से स्मरण किया गया है। मेरी बुद्धि सदा प्राकृतिक वस्तुओं की ओर न भागती रहकर प्रभुप्रवण बने। यह आत्मा को कभी न भूले। यह आत्मतत्त्व को विस्मृत न करना ही धीर पुरुष का लक्षण है। यही प्रेयस् को महत्त्व न देकर श्रेयस् को अपनाना है। मैं प्रतिदिन आत्मचिन्तन अवश्य करूँ। यही निःश्रेयस का मार्ग है। ३. इस आत्मचिन्तन के साथ शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए **बृहद् रयिम्**=वृद्धि के कारणभूत धन की ओर मेरी बुद्धि जाए, अर्थात् मैं बुद्धि से धनार्जन भी करूँ। यह धन ऐसा सदुपयुक्त हो कि **विश्ववारम्**=सबसे चाहने योग्य हो। सब कहें कि धन हो तो ऐसा हो। यह धन **रथप्राम्**= हमारे इस शरीररूप रथ का पूरण (प्रा) करनेवाला हो। यह धनार्जन ही अभ्युदय है। ४. अभ्युदय व निःश्रेयस का अपने जीवन में समन्वय करता हुआ मैं अपने मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाऊँ। प्रभु कहते हैं कि तू **द्युतद्यामा**=ज्योतिर्मय मस्तिष्करूप द्युलोकवाला बन। इस मस्तिष्क में तू ज्ञान के सूर्य के उदय के लिए प्रयत्नशील हो। ५. वायु के घोड़े नियुत् कहलाते हैं। 'वायु' आत्मा का नाम है। ये इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं। इन्हें उसने सदा नियत

कर्मों में लगाये रखना है। नियत कर्मों में लगाने योग्य होने से ही इन्हें 'नियुत्' कहते हैं। इन **नियुतः**=इन्द्रियाश्वों को **पत्यमानः**=(पत् गतौ) तू सदा नियत कर्मों में लगा। जब ज्ञानपूर्वक कर्म होंगे तब वे पवित्र ही होंगे। ४. **कविः**=यह क्रान्तदर्शी बनता है। वस्तुओं के तत्त्व को जानने के कारण यह उनमें फँसता नहीं। कहीं भी न उलझता हुआ यह आगे-और-आगे बढ़ता चलता है। इसका जीवन न उलझने के कारण ही सदा पवित्र व यज्ञमय बना रहता है। यह लोकहित में सदा प्रवृत्त रहता है। हे **प्रयज्यो**=यज्ञमय स्वभाववाले जीव! तू **कविम्**=उस क्रान्तदर्शी, सृष्टि के प्रारम्भ में सब विद्याओं का उपदेश देनेवाले प्रभु को **इयक्षसि**=प्राप्त होता है। कवि बनकर ही तो 'कवि' को तू प्राप्त कर पाएगा।

भावार्थ—हम 'ऋजिश्व' ऋजुमार्ग से चलनेवाले बनकर, आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले बनें। सुपथ से ही धन कमाएँ। ज्योतिर्मय बनकर, कर्त्तव्य पालन करते हुए यज्ञमय जीवन बनाएँ और कवि बनकर उस कवि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

सात्त्विक अन्न व शारीरिक स्वास्थ्य

इन्द्रवायूऽइमे सुताऽउप प्रयोभिरा गतम्। इन्दवो वामुशन्ति हि॥५६॥

१. मन्त्र का सरलार्थ यह है—**इन्द्रवायू**=इन्द्र और वायु **इमे**=ये **इन्दवः**=सोमकण **सुताः**=उत्पन्न किये गये हैं। ये सोमकण **हि**=निश्चय से **वाम्**=तुम दोनों—इन्द्र और वायु को **उशन्ति**=चाहते हैं। **प्रयोभिः**=सात्त्विक अन्नों से **उप आगतम्**=इन्हें समीपता से प्राप्त होओ।

२. ये सोमकण अन्न का ही अन्तिम परिणाम हैं। यदि अन्न सात्त्विक होता है तो ये सोमकण भी सौम्य व शान्त होते हैं और शरीर में सुरक्षित रहते हैं। ये सोमकण 'इन्दवः' कहे गये हैं, क्योंकि सारी शक्ति का मूल ये ही हैं—इन्द to be powerful. इन्हीं से जीवन का धारण होता है, इनकी समाप्ति के साथ जीवन समाप्त हो जाता है। ३. 'प्रयस्' शब्द अन्न का वाचक है, साथ ही यह प्रयत्न का वाचक भी है। दोनों अर्थों को मिलाने से यह भावना प्रतीत होती है कि 'जो अन्न प्रयत्न से प्राप्त किया गया है'। वस्तुतः प्रयत्न-प्राप्त अन्न का सेवन शक्ति की रक्षा में सहायक है। ४. सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने के लिए इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनना आवश्यक है। जितेन्द्रिय पुरुष ही वीर्यरक्षा कर पाता है। इन्द्रियों का दास बनने पर सोमशक्ति की रक्षा का प्रश्न ही नहीं रहता। इन्द्रियों का वशवर्ती न होने के लिए वायु बनना चाहिए। 'वा गतौ'=निरन्तर क्रियाशील रहना चाहिए। अच्छे कार्यों में लगे रहेंगे तो बुरी भावनाएँ उत्पन्न ही नहीं होगी। आलसी को ही ये वासनाएँ सताती हैं। ५. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि मधुच्छन्दा है। इसने प्रस्तुत मन्त्र में निम्न मधुर इच्छाएँ की हैं (क) **इन्द्र**=मैं इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनूँगा। (ख) **वायु**=मेरा जीवन सतत क्रियामय होगा। (ग) **प्रयस्**=मैं प्रयत्न से प्राप्त सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाला बनूँगा। (घ) **इन्दवः**=सोमकण शक्ति के स्रोत हैं, इस बात को न भूलूँगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनें तथा निरन्तर क्रिया में लगे रहने से सोम के प्रिय बनें, अर्थात् शक्ति की रक्षा करनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

स्नेह व अद्वेष—मानस स्वास्थ्य

मित्रꣳ हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीꣳ साधन्ता॥५७॥

१. सोमकणों की रक्षा के लिए 'मानस स्वास्थ्य' की अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्य का मन क्षुब्ध होगा तो सोमरक्षा सम्भव न होगी, अतः 'मधुच्छन्दा' प्रार्थना करता है कि मैं **मित्रम्**=स्नेह की देवता को **हुवे**=पुकारता हूँ, जो स्नेह की देवता **पूतदक्षम्**=मेरे बल को पवित्र बनाती है। जब हमारा स्नेह व्यापक बना रहता है तब वह पवित्र होता है और वीर्य में उष्णता उत्पन्न करने का कारण नहीं बनता। यही स्नेह संकुचित होकर जब वासना का रूप धारण कर लेता है तब यह 'काम' कहलाता है और तब सोमरक्षा सम्भव नहीं होती। एवं, 'स्नेह को व्यापक बनाना' सोमरक्षा का उत्तम उपाय है। २. **वरुणम् च**=(हुवे) मैं वरुण को पुकारता हूँ। जो वरुण **रिशादसम्** (रिश+अदस्) संहारक शत्रुओं का खा जानेवाला है। (वरुणः वारयतीति सतः) 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है। द्वेष मनुष्यों की शक्ति को जलाने का हेतु बनता है। ईर्ष्यालु पुरुष अपने अन्दर जलता रहता है। एवं, सोमरक्षा के लिए 'द्वेष' से दूर रहना नितान्त आवश्यक है। द्वेष तो रिश् है (रिश हिसांयाम्), मनुष्य की हिंसा करनेवाला है। ३. ये मित्र और वरुण=स्नेह करना व द्वेष से दूर रहना, इसलिए भी आवश्यक हैं कि ये दोनों मनुष्य की **घृताचीं धियं साधन्ता**=क्षरण व दीप्ति को देनेवाली बुद्धि को सिद्ध करते हैं। घृ क्षरणदीप्त्योः=स्नेह व अद्वेष से हमारा मन स्वस्थ रहता है और हममें वह बुद्धि उत्पन्न होती है जो मलों का क्षरण कर हमें दीप्त बनाती है। जब स्नेह वासना का रूप ले-लेता है तब वह 'काम' मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर देता है। काम तो है ही 'मन्मथ'। (मनो मथः=ज्ञान का नष्ट करनेवाला)। द्वेष, ईर्ष्या व क्रोध मनुष्य के मन को नष्ट कर देते हैं। 'ईर्ष्योर्मृतं मनः', ईर्ष्यालु पुरुष का मन मृत होता है। क्रोध में बुद्धि अलसा जाती है। एवं, 'मित्रावरुण' बुद्धि के नैर्मल्य के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—'मधुच्छन्दा' की मधुर इच्छाएँ निम्न शब्दों में व्यक्त हुई हैं—(क) **मित्र**=मैं सबके साथ स्नेह करनेवाला बनूँ। (ख) **वरुण**=मैं द्वेष का सदा वारण करनेवाला होऊँ। (ग) मलों के 'क्षरण' से मैं दीप्त बुद्धि को सिद्ध करूँ (घृताचीं धियं) और (घ) सब के प्रति स्नेहवाला बनकर द्वेष से सदा दूर रहता हुआ मैं सोमरक्षक बनूँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

प्राण-साधना

दस्रा युवाकवः सुता नासत्या वृक्तबर्हिषः। आ यातꣳ रुद्रवर्त्तनी॥५८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्विनौ' प्राणापान हैं। प्राणापान 'अश्विनौ' इसलिए कहलाते हैं कि **'न श्वः'**=आज हैं और कल नहीं। अथवा 'अश् व्याप्तौ' ये सदा कार्यों में व्याप्त रहते हैं। प्राणापान कभी सोते नहीं। प्रस्तुत मन्त्र में इन्हें 'दस्रा, नासत्या व रुद्रवर्त्तनी' कहा गया है। ये (दसु उपक्षपे) सब मलों को उपक्षीण करनेवाले हैं। शरीर के मलों को क्षीण करके शरीर को नीरोग बनाते हैं। मन से राग-द्वेष को दूर भगाकर मानस शान्ति देते हैं और बुद्धि की मन्दता को नष्ट करके बुद्धि को सूक्ष्म करते हैं। ये 'नासत्या'= नासिका में रहनेवाले हैं। इनका व्यापार घ्राणेन्द्रिय में चलता है अथवा 'न असत्यौ' ये असत्य नहीं हैं, ये सत्य-ही-सत्य हैं। इनकी साधना मनुष्य के शरीर, मन व मस्तिष्क को सत्य व निर्मल बनाती है। ये प्राणापान 'रुद्रवर्त्तनी' हों, (रुद्र इति स्तोतृनाम-निघण्टौ) स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले हों, अर्थात् इनसे प्रभु के नामों का जप चले। मैं अपने श्वासोच्छ्वास के साथ प्रभु के नामों का स्मरण करूँ। २. मन्त्र में कहते हैं कि **दस्रा**=दोषों

का उपक्षय करनेवाले **नासत्या**=नासिका में होनेवाले व सदा सत्य **रुद्रवर्त्तनी**=स्तोता के मार्ग पर चलनेवाले प्राणापानो! तुम इन सोमकणों को जो **सुताः**=तुम्हारे शरीर में उत्पन्न हुए हैं **आयातम्**=प्राप्त होओ। प्राणसाधना 'सोमरक्षा' का सर्वोत्तम साधन है। प्राणापान के अभ्यास से इस सोम की ऊर्ध्वगति होती है। ३. प्राणसाधना से सुरक्षित सोमकण **'युवाकवः'** हैं (यु=मिश्रण-अमिश्रण), ये हमें मलों से पृथक् करके नीरोगता, शान्ति व बुद्धि की सूक्ष्मता से युक्त करते हैं। सब दुरितों से दूर करने और भद्र से मिलानेवाले ये ही हैं। दुरितों से दूर करते हुए ये सोमकण **'वृक्तबर्हिषः'** हैं (वृक्त=purified वृक्तं बर्हिः यैः) ये हृदय को पवित्र करनेवाले हैं। हृदय की पवित्रता से ये सुरक्षित होते हैं। सुरक्षित हुए-हुए ये हृदय को और अधिक निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—प्रस्तुत मन्त्र में मधुच्छन्दा की मधुर इच्छा यह है कि मेरे प्राण प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कुशिकः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

आदर्श पत्नी के कर्तव्य—आदर्श गृहिणी का गुणदशक

विदद्यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यꣳ सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत्सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्॥५९॥

१. मन्त्र का ऋषि कुशिक है (कुशा+इक) **कुशा**=घोड़े की लगाम, **इक**=वाला। इन्द्रियरूपी घोड़ों की लगामवाला। जिसने मनरूपी लगाम से इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में किया हुआ है। यही व्यक्ति घर का उत्तम सञ्चालन कर सकता है। घर की साम्राज्ञी पत्नी होती है, वह स्वयं अपना उत्तम सञ्चालन करती हुई घर को उत्तम मार्ग से ले-चलती है। उसके कर्त्तव्यों को निम्न शब्दों में देखिए। २. **यत्**=जो **ई**=निश्चय से **सरमा**=पति के साथ ही रमण करनेवाली, जिसके सब आनन्द पति के साथ हैं **अद्रेः**=पर्वततुल्य विघ्नों के भी **रुग्णम्**=(रुजो भंगे) तोड़ने-फोड़ने को **विदत्**=जानती है, अर्थात् पत्नी का पहला कर्त्तव्य यह है कि वह घर में उपस्थित होनेवाले विघ्नों को स्वयं नष्ट-भ्रष्ट कर सके। प्रसंगवश 'सरमा' शब्द ने यह भी व्यक्त कर दिया कि पति से अलग संसारिक आनन्दों का वह स्वप्न भी लेनेवाली न हो। ३. यह **सध्र्यक्**=(सह अञ्चति) पति के साथ मिलकर **पाथः**=मार्ग को **कः**=बनाती है 'घर का सञ्चालन किस प्रकार करना है' इस बात का निश्चय यह पति के साथ मिलकर करती है और दोनों एकमत से विचारपूर्वक जिस मार्ग को बनाते हैं उसकी दो विशेषताएँ होती हैं—(क) **महि**=प्रथम तो वह (मह पूजायाम्) पूजावाला है। घर के सब व्यक्ति प्रातः प्रभुपूजा से दिन को प्रारम्भ करते है और सायं पूजा के साथ ही दिन की समाप्ति करते हैं, इस प्रकार इनका मार्ग पूजामय हो जाता है। (ख) **पूर्व्यम्**=यह मार्ग ऐसा होता है कि (पृ पालनपूरणयोः) इसमें घर के सब व्यक्तियों के स्वास्थ्य का ध्यान किया गया है, यह मार्ग उनका पालन करनेवाला है और साथ ही यह उनके मनों में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आने देता। १. पति-पत्नी मिलकर मार्ग न बनाएँगे तो बच्चे माता न मानेगी तो पिता से बात मनवा लेंगे। पिता न माने तो माता से मनवा लेंगे। इस प्रकार घर में 'द्वैध शासन'-सा चलेगा, जो कभी हितकर नहीं होगा, अतः **सध्र्यक्**=मिलकर ही रास्ते का निर्माण करना है। ४. पत्नी का तीसरा कर्तव्य है कि वह **अग्रं नयत्**=घर के सब व्यक्तियों को आगे-और-आगे ले-चलती है। सब सन्तानों की उन्नति का पूरा ध्यान करती है। ५. **सुपदी**=(पद गतौ) पत्नी स्वयं सदा उत्तम गतिवाली होती है। स्वयं सोयी हुई पत्नी बच्चों को 'जगाकर पढ़ने के लिए' प्रेरणा नहीं दे सकती। ६. माता के लिए यह भी

आवश्यक है कि वह **अक्षराणाम्**=प्रत्येक अक्षर के **अच्छा रवं जानती**=शुद्ध उच्चारण को जाननेवाली हो। माता से बच्चे ने उच्चारण सीखना है। ७. अन्तिम बात यह है कि माता **प्रथमा** (प्रथ विस्तारे)=उदार हृदयवाली हो। संकुचित हृदयवाली माता बच्चे को भी संकुचित हृदयवाला बना देगी। इस प्रकार उदार हृदयवाली बनकर **गात्**=यह गृहिणी घर में चलती है।

भावार्थ—आदर्श पत्नी वह है जो १. **सरमा**=पति के साथ आनन्द का अनुभव करती है। २. विघ्नों से न घबराकर उन्हें दूर करती है (विदत् रुग्णमद्रेः) ३. घर की नीति का निर्धारण पति के साथ विचार कर करती है (सध्र्यक्) ४. इसकी नीति में पूजा को प्रथम स्थान दिया जाता है (महि), ५. इसका प्रत्येक कार्य पालन व पूरण के लिए होता है (पूर्व्य)। इसकी नीति से घर में सबके शरीर स्वस्थ रहते हैं, मन व मस्तिष्क में कोई न्यूनता पैदा नहीं होती। ६. यह घर की उन्नति का कारण बनती है (अग्रं नयत्), ७. स्वयं उत्तम आचरणवाली होती है, ८. शुद्ध उच्चारणवाली होती है। ९. उदार हृदयवाली होती है (प्रथमा) १०. गतिशील होती है, आलस्य से दूर (गात्)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

मार्गदर्शक प्रभु

नहि स्पशमविदन्नन्यमस्माद्वैश्वानरात्पुरऽएतारमग्नेः।
एमेनमवृधन्नमृताऽअमर्त्यं वैश्वानरं क्षैत्रजित्याय देवाः॥६०॥

१. **अमृताः देवाः**=देव अमृत हैं, अमर हैं। ये किसी भी सांसारिक वस्तु के पीछे भागते नही, वस्तुओं का उचित प्रयोग करते हुए ये ज्ञानीलोग उन वस्तुओं में आसक्त नहीं होते। २. ये देव **क्षैत्रजित्याय**=इस संसाररूप रणक्षेत्र में विजय पाने के लिए उस **अर्मत्यम्**=पूर्णरूप से अनासक्त एवं **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले **एनम्**=इस प्रभु को **ईम्**=निश्चय से **आ अवर्धन्**=सर्वथा बढ़ाते हैं। उस प्रभु का स्तवन करते हैं। इस संसार-संग्राम में विजयी होने का एकमात्र उपाय प्रभु-स्तवन ही है। प्रभु ने ही हमारे लिए 'काम, क्रोध व लोभ' आदि शत्रुओं को जीतना है। इस शत्रु-विजय के द्वारा वे प्रभु हमारा हित साधते हैं, इसीलिए ३. **अस्मात्**=इस **वैश्वानरात्**=सर्व नरहितकारी **अग्नेः**=अग्रेणी उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को छोड़कर **अन्यम्**=किसी और को **पुर एतारम्**=आगे ले-चलनेवाला **स्पशम्**=मार्गदर्शक **नहि अविदन्**=नहीं जानते। देवलोग प्रभु को ही मार्गदर्शक समझते हैं। वस्तुतः 'अन्तःस्थित प्रभु की वाणी को सुनना और उसके अनुसार कार्य करना', इससे बढ़कर धर्मज्ञान का और साधन नहीं है। जब मनुष्य प्रभु को अपना नेता बनाता है तब भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता। ४. प्रभु को ही मार्गदर्शक बनानेवाला व्यक्ति सभी को प्रभु का पुत्र जानता है, उसमें सभी के प्रति प्रीति की भावना होती है। सभी के साथ स्नेह करने के कारण इसका नाम 'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु को अपना मार्गदर्शक बनाएँ। ऐसा करने पर हम भटकेंगे नहीं। संसार-संग्राम में पराजित नहीं होंगे और सभी के साथ स्नेह करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पति-पत्नी, राजा-रानी अथवा राजा व सेनापति

उग्रा विघनिना मृधऽइन्द्राग्नी हवामहे। ता नो मृडातऽईदृशे॥६१॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'इन्द्राग्नी' हैं। 'इन्द्र' पति है उसने शक्तिशाली होना है और धन कमाना है। इन्द्र असुरों का संहार करता है, पति ने भी आसुरवृत्ति का संहार करते हुए चलना है। पत्नी ने 'अग्नि' बनना है। मन्त्र संख्या ५९ में इसके लिए 'अग्रं नयत्' तो कहा ही गया है। गृहिणी वही जो घर को आगे ले-चलती है—अग्नि है। २. ये दोनों **उग्रा**=उदात्त स्वभाव के हैं। इनके शील में कहीं भी कमीनापन नहीं होता। ये उदार होते हैं। ५९ में पत्नी को 'प्रथमा'=विशाल हृदयवाली कहा ही गया है। इनकी उदात्तता पर घर की उदात्तता निर्भर करती है। इनके दिल छोटे होते हैं तो घर भी छोटा बन जाता है। ३. ये **इन्द्राग्नी**=पति-पत्नी **मृधः**=हमारा वध करनेवाले जो काम-क्रोधादि शत्रु हैं, उनका **विघनिना**=विशेषरूप से हनन करनेवाले होते हैं। काम-क्रोध पर विजय ही संसार-संग्राम में सच्चा विजय है। इसी में गृहस्थ की सफलता है। ४. ऐसे इन्द्राग्नी को ही **हवामहे**=हम पुकारते हैं, अर्थात् प्रभु से यही आराधना करते हैं कि हमारे राष्ट्र में प्रत्येक घर में ऐसे पति-पत्नी हों तभी राष्ट्र का एक-एक घर उत्तम बनकर राष्ट्र का उत्थान होगा। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा-रानी लें तो अर्थ होगा हमारे राष्ट्र के प्रमुख पुरुष शासक व शासिकाएँ उदात्त व शत्रुनाशक हों। वे काम-क्रोध के वशीभूत न हों। इन्हीं का अनुकरण शेष प्रजा ने करना है। इन्द्राग्नी का अर्थ राजा व सेनापति लें तो बाह्य शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करने की भावना भी 'मृधः विघनिना' शब्दों से सूचित होती है। ये राष्ट्र-शत्रुओं को कुचल डालनेवाले हों। ५. **ता**=ऐसे पति-पत्नी ही **नः**=हम सबको **ईदृशे**=इस प्रलोभनमय संसार में **मृडातः**=सुखी करनेवाले होते हैं। जिस राष्ट्र में पति-पत्नी 'इन्द्राग्नी' होंगे उस राष्ट्र में न कोई भूखा मरेगा (इन्द्र=ऐश्वर्य), न ही कोई मूर्ख होगा (अग्नि=प्रकाश)। कितना सुखमय व सुन्दर होगा वह राष्ट्र! यह राष्ट्र 'भरद्वाजों' का होगा। उन लोगों का जिन्होंने काम-क्रोध को जीतकर अपने में शक्ति का भरण किया है (भरद्+वाज=भरद्=भरता है, वाज=शक्ति को)।

भावार्थ—पति-पत्नी उदात्त स्वभाव के व काम-क्रोध को जीतनेवाले हों।

ऋषिः—**देवलः**। देवता—**सोमः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

उपासना के तीन लाभ

उपास्मै गायता नरः पवमानायेन्दवे। अभि देवाँ२॥ऽइयक्षते ॥६२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि देवल है—देवों का लेनेवाला—दिव्य गुणों को अपने अन्दर बढ़ानेवाला। यह अपने को दिव्य गुणों का पुञ्ज बना पाया है, क्योंकि इसने प्रभु का उपासन किया है। यह कहता है कि २. हे **नरः**=अपने को उन्नतिपथ पर (नृ नये) ले-चलनेवाले लोगो! **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **उपगायत**=समीपता से गायन करो। घर में सब मिलकर बैठें और उस प्रभु का स्तवन करें। यही एकमात्र उपाय है जिससे कि हमारा जीवन बुराइयों से बचा रहता है। हम गुणों से युक्त होकर अपने जीवन को प्रभु-गुणगान से ही सुन्दर बना पाते हैं, अतः उस प्रभु के लिए गायन करो जो ३. **पवमानाय**=पवित्र करनेवाले हैं। प्रभु गुणगान से हमारा जीवन पवित्र बनेगा। प्रातः प्रभु के समीप बैठ, हम उसका गुणगान करें। ४. **इन्दवे**=शक्तिशाली प्रभुके लिए गुणगान करो। प्रभु का गुणगान हममें शक्ति भरेगा। ५. उस प्रभु का गान करो जो हमें **देवान् अभि इयक्षते**=देवों की ओर ले-चलनेवाले हैं। प्रभु का गुणगान हमें प्रेरणा देगा और हमारे जीवन को दिव्य गुणों से भर देगा। दिव्य गुणों को प्राप्त करके हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'देवल' बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु-उपासन के तीन लाभ हैं—'पवित्रता, शक्ति व दिव्यता'।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

विप्र का लक्षण—विप्र बनने का उपाय

ये त्वाहिहत्ये मघवन्नवर्द्धन्ये शाम्बरे हरिवो ये गविष्टौ।
ये त्वा नूनमनुमदन्ति विप्राः पिबेन्द्र सोमꣳ सगणो मरुद्भिः॥६३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से प्रेम करता है। यह विश्वामित्र पहला काम 'अहि-हत्या' के रूप में करता है। 'अहि' वृत्र है। ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वृत्र कामवासना का नाम है, क्योंकि यह हमारे ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इसे 'अहि' नाम इसलिए दिया कि यह 'आहन्ति'=मनुष्य का विनाश करती है। इस अहि-हत्या के लिए विप्र प्रभु का वर्धन करते हैं। **ये**=जो **त्वा**=तुझे **अहि-हत्ये**=इस वृत्र व कामवासनाओं के नाश के निमित्त **अवर्धन्**=बढ़ाते हैं। हे प्रभो! आप **मघवन्**=निष्पाप ऐश्वर्यवाले हैं (मा+अघ) अथवा यज्ञमय (मघ=मख) हैं। यह विप्र भी आपकी यज्ञमयता का स्तवन करता है और यज्ञमय बनता हुआ वासना को विनष्ट करता है। २. 'शंबर' ईर्ष्या का नाम है, यह मनुष्य की मानस शान्ति को समाप्त कर देती है। इस शंबर के साथ युद्ध को यहाँ 'शांबर' कहा गया है। विप्र लोग वे हैं **ये**=जो **शाम्बरे**=ईर्ष्या के साथ युद्ध में आपका स्मरण करते हैं और ईर्ष्या से ऊपर उठ जाते हैं। ३. हे प्रभो! आप 'हरिवान्' हैं, दुःखनाशक (हृ हरणे) ज्ञान की किरणोंवाले (हरयः रश्मयः) हैं। विप्र वे हैं **ये**=जो हे **हरिवः**=ज्ञान रश्मियोंवाले प्रभो! आपको **गविष्टौ**=(गो+इष्ट) ज्ञानयज्ञों में बढ़ाते हैं, अर्थात् स्तुत करते हैं। प्रभु मूल आचार्य हैं, गुरुओं के भी गुरु हैं। ५. फिर **विप्राः**=विप्र वे हैं **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **त्वा**=आपको **अनुमदन्ति**=प्राप्त करने के बाद प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। आपकी प्राप्ति में ही जिन्हें आनन्द होता है, जो सभी प्राकृतिक भोगों के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं रखते। ६. एवं, विप्र वह है जो (क) काम और ईर्ष्या पर विजय पाता है, (ख) ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है और (ग) प्रभु-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करता है। ऐसा विप्र बनने के लिए मन्त्र की समाप्ति पर प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **सगणः**=ज्ञानेन्द्रिय पंचक, कार्मेन्द्रिय पंचक व पाँच प्राणों के गण से युक्त हुआ-हुआ **मरुद्भिः** (मरुतः=प्राण) प्राणों के द्वारा **सोमं पिब**=सोम का पान कर। जब जीव प्राणसाधना करता है तब उसके वीर्य की ऊर्ध्वगति उसे श्रीसम्पन्न बनाती है। उसी समय काम व ईर्ष्या का नाश होता है, ज्ञानयज्ञ चलता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन होता है।

भावार्थ—विप्र वह है जो काम पर विजय पाता है, ईर्ष्या को नष्ट करता है, ज्ञानयज्ञ का विस्तार करता है, प्रभु-प्राप्ति में आनन्दानुभव करता है। विप्र बनने के लिए वह जितेन्द्रिय बनकर प्राणसाधना के द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति के लिए प्रयत्नशील होता है।

ऋषिः—**गौरीवितिः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**।

माता का वीर पुत्र

जनिष्ठाऽउग्रः सहसे तुराय मन्द्रऽओजिष्ठो बहुलाभिमानः।
अवर्द्धन्निन्द्रं मरुतश्चिदत्र माता यद्वीरं दधनद्धनिष्ठा॥६४॥

१. **यत्**=जब **वीरम्**=वीर सन्तान को **धनिष्ठा**=उत्तम धनोंवाली, अर्थात् स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति-रूप सभी धनोंवाली अथवा (धन to sound) सदा उत्तम शब्दों को

बच्चे के कान में डालनेवाली, बच्चे का निर्माण करनेवाली माँ **दधनत्**=बच्चे का पालन-पोषण करती है तब वह **उग्रः**=उदात्त **जनिष्ठाः**=बनता है।

माता (क) स्वस्थ हो, पवित्र मनवाली हो, ज्ञानकी दीप्तिवाली हो (ख) वह बालक के कान में सदा **'वेदोऽसि'**=तू ज्ञानी है, **'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव'**=तू शरीर को पत्थर-जैसा मज़बूत बना, मन की वासनाओं के लिए कुल्हाड़े के समान बन और अविच्छिन्न ज्ञान की ज्योतिवाला हो' इस प्रकार के उत्तम शब्दों को ही डालनेवाली हो, (ग) सन्तान को सदा 'वीर' शब्द से स्मरण करती हुई उसमें वीरता का सञ्चार करे, (घ) बच्चे का संकल्पपूर्वक निर्माण करे, तभी बच्चा मन्त्र के शब्दों के अनुसार निम्न गुणों के विकासवाला बन पाएगा। २. **उग्रः**=उदात्त, उत्कृष्ट स्वभाववाला, जिसकी मनोवृत्ति में कमीनापन नहीं है। **सहसे**=यह सहस् के लिए **जनिष्ठाः**=होता है। सहस् में ही शक्ति का पर्यवसान है। लोग अपमान करते हैं, परन्तु यह तैश में नहीं आता। **तुराय**=यह शत्रुओं के संहार के लिए होता है। काम-क्रोध आदि के वशीभूत नहीं होता। **मन्द्रः**=यह सदा आनन्दमय, प्रसन्न मनवाला रहता है। मनःप्रसाद इसकी सर्वोत्कृष्ट सम्पत्ति होती है। **ओजिष्ठः**=यह अत्यन्त ओजस्वी होता है। ओज वह शक्ति है जो इसके सर्वांगीण विकास का कारण होती है। **बहुलाभिमानः**=यह अत्यधिक उत्कर्ष की भावनावाला होता है। अपनी महिमा का आदर करता है। निराशावाद की बातें नहीं करता रहता। हिम्मत नहीं हार जाता। सदा उत्साहमय मनवाला होता है **'अहमिन्द्रः, न परजिग्ये'**='मैं इन्द्र हूँ, पराजित थोड़े ही होता हूँ?' यह इसकी भावना होती है। ४. **अत्र**=इस जीवन में **चित्**=निश्चय से **मरुतः**=प्राण **इन्द्रम्**=इस इन्द्रियों के अधिष्ठाता को **अवर्धन्**=वृद्धि को प्राप्त कराते हैं, अर्थात् यह प्राणसाधना करता है और प्राणसंयम से सब प्रकार की उन्नति करता हुआ यह आगे-ही-आगे बढ़ता है। ५. इस सबके लिए वह गौरिवीति=सात्त्विक भोजनवाला होता है। सात्त्विक भोजन से इसका अन्तःकरण शुद्ध होता है।

भावार्थ—दीप्त ज्ञानवाली माता बच्चे को सदा उदात्त, सहनशील, वासनाओं का विजेता, आनन्दमय, ओजस्वी, उत्साह-सम्पन्न व प्राणसाधना का अभ्यासी बनाए। यही वृद्धि का मार्ग है।

ऋषिः—**वामदेवः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

वामदेव का प्रभु-आराधन

आ तू नऽइन्द्र वृत्रहन्नस्माकमर्द्धमा गहि। महान्महीभिरूतिभिः ॥६५॥

१. धनिष्ठा माता से निर्माण किया गया बालक बढ़ता हुआ 'वामदेव' बनता है, सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता है। इन्हीं गुणों का गतमन्त्रों में उल्लेख हुआ है। उन गुणों से युक्त बनना प्रभु की मित्रता में ही सम्भव होता है, अतः वामदेव प्रार्थना करता है २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे **तु**=तो **आ**=सर्वथा आप ही हो। हे **वृत्रहन्**=वृत्रों को नष्ट करनेवाले प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **अर्द्धम्**=वृद्धि को **आगहि**=आप प्राप्त कराइए अथवा (अर्द्धम्=side) हमारे पार्श्व में आप उपस्थित होइए। आपके द्वारा ही हमने इन वृत्रादि शत्रुओं पर विजय पानी है। ३. हे प्रभो! **महान्**=आप महान् हैं, बड़े हैं, पूज्य हैं। **महीभिः ऊतिभिः**=महनीय रक्षणों के द्वारा आप हमें प्राप्त हों। आपसे रक्षित होकर ही हम अपने देवत्व को स्थिर रख सकते हैं। वस्तुतः वामदेव बनना सम्भव ही तब होता है जब प्रभु अपने रक्षणों से हमारे समीप विद्यमान हों। प्रभु से असुरक्षित जीव

वासनाओं का शिकार हो जाएगा। हम वृत्रों=वासनाओं को थोड़े ही मारते हैं 'वृत्रहन्' तो वे प्रभु ही हैं। प्रभु की महिमा से ही हमें भी महिमा प्राप्त होती है।

भावार्थ—प्रभु इन्द्र हैं, वृत्रहन् हैं, महान् हैं। वे प्रभु हमें प्राप्त हों।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

इन्द्र=जितेन्द्रियता

त्वमिन्द्र प्रतूर्त्तिष्वभि विश्वाऽअसि स्पृधः।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य्य तरुष्यतः॥६६॥

१. वामदेव ने गतमन्त्र में प्रभु से वृत्र-विनाश की याचना की थी। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि 'नृमेध' है जो अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है। वस्तुतः 'सबके प्रति प्रेम होना' ही वृत्र के नाश का उपाय है। प्रेम ही संकुचित होते-होते 'वृत्र' बन जाता है। २. प्रभु जीव से कहते हैं—**इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वम्**=तू **प्रतूर्त्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुओं को **अभि असि**=(अभि भवसि) अभिभूत कर लेता है। मनुष्य जितेन्द्रिय बने, यह जितेन्द्रिय बनना उसे सब शत्रुओं का विजेता बना देगा। ३. इस जितेंद्रियता से सब शत्रुओं की समाप्ति होगी। परिणामतः तू **अशस्तिहा**=सब अप्रशंसनीय, अशुभ बातों का ध्वंस करेगा और **जनिता**=अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाला बनेगा। इन शत्रुओं ने ही तो हमारे सब विकास को रोका हुआ था। अब यह इन्द्र **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाला हो गया है। हे इन्द्र! **त्वम्**=तू **तरुष्यतः**=तेरी हिंसा करनेवालों को **तूर्य**=हिंसित कर डाल। वस्तुतः जब मनुष्य इन्द्रियों को जीत नहीं पाता तब उनका दास बन जाता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें और अशुभ को दूर करके अपने जीवन को श्रीसम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

जितेन्द्रिय के लिए सब अनुकूल

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥६७॥

१. मनुष्य कई बार प्रतिकूलता की शिकायत करता है और कहता है कि 'ये लोग मेरे विरोधी हैं' या 'यहाँ की जल-वायु मेरे अनुकूल नहीं'—ये दोनों ही बातें ठीक नहीं हैं। मनुष्य जब इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है तब प्रभु कहते हैं कि **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **ते**=तेरे **तुरयन्तं शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले शोषक बल के **अनु ईयतुः**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। उसी प्रकार अनुकूल गतिवाले होते हैं **न**=जैसे **शिशुं मातरा**=बच्चे के अनुकूल माता-पिता होते हैं। माता-पिता कभी बच्चे के प्रतिकूल नहीं हो सकते, इसी प्रकार द्यावापृथिवी तो मनुष्य के अनुकूल ही हैं, बशर्ते कि वह स्वयं अपने प्रतिकूल न हो जाए। यदि हम स्वयं इन्द्रियों के दास बनकर अन्तः शत्रुओं के शिकार हो जाते हैं तब तो सब प्रतिकूल-ही-प्रतिकूल है। हम अपने स्वामी हैं तो सब अनुकूल-ही-अनुकूल है। २. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **यत्**=जब **वृत्रम्**=काम को **तूर्वसि**=तू नष्ट करता है तब **ते**=तेरे **मन्यवे**=ज्ञान के लिए **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रु **श्नथयन्त**=नष्ट हो जाते हैं। वृत्र=कामवासना का नाम है, क्योंकि यह मन्मथ है, मनुष्य के ज्ञान को नष्ट कर डालती है, उसके ज्ञान पर पर्दा डाल देती है। इन्द्र=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव इसका विनाश

करता है। यह वृत्र सब शत्रुओं का मुखिया है। 'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, व मत्सर'—ये छह शत्रु हैं। 'काम' जब ज्ञान पर पर्दा डालता है तब यह मोह (वैचित्य) का जनक होता है। किसी वस्तु का मद (शक्ति, धन व ज्ञान का मद) क्रोध को जन्म देता है और औरों की सम्पत्ति देखकर मात्सर्य होने पर लोभ बढ़ता है। एवं, ये 'काम-क्रोध-लोभ' ही नरक के द्वार हैं। इनमें भी काम-क्रोध दो ही इसके प्रमुख शत्रु हैं। इनमें भी सबसे बड़ा शत्रु काम ही है। यही शत्रु-सैन्य का सेनापति है। इसके ध्वंस होने पर ज्ञान का सूर्य ऐसे चमकने लगता है जैसे बादलों के हटने पर आकाश में सूर्य। उस ज्ञान-सूर्य के प्रकाश में सब शत्रु विलीन हो जाते हैं। मनुष्य देव बन जाता है, इसका जीवन यज्ञमय हो जाता है और इस प्रकार इसका 'नृ-मेध' यह नाम अन्वर्थक होता है।

भावार्थ—हम वृत्र का विनाश करें, हमारे ज्ञान का सूर्य चमके और सब शत्रु नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**कुत्सः**। देवता—**आदित्याः**। छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

यज्ञ=सुख

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृडयन्तः।
आ वोऽर्वाची सुमतिर्ववृत्यादꣳहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत् ॥६८॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवानाम्**=देवों के प्रति=ओर **सुम्नम्**=सुख के रूप में होकर **एति**=वापस आ जाता है, अर्थात् यज्ञ का परिणाम जीवन का सुखी होना है। **'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम'**=यज्ञ के अभाव में न इस लोक का कल्याण है, न परलोक का। **'स्वर्गकामो यजेत'**=सुख की कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञ सुख के रूप में लौट आता है। देवों का जीवन यज्ञमय होता है, परिणामतः वे सुखी होते हैं। २. ये देव आदित्य होते हैं। सब अच्छी वस्तुओं का आदान करने के कारण ये आदित्य हैं। प्रभु कहते हैं कि **आदित्यासः**=हे आदित्यो! **मृडयन्तः**=सभी के जीवनों को सुखी बनाते हुए **भवत**=होवो। अपने जीवन को सुन्दर बनाकर ही सन्तुष्ट न हो जाओ औरों को भी सुखी करनेवाले होओ। ३. **वः**=तुम्हारी **सुमतिः**=कल्याणी मति **अर्वाची** (अर्वाङ् अञ्चति=अन्दर आती है)—हृदय तक पहुँचनेवाली **आववृत्यात्**=सर्वथा हो, अर्थात् आप ऐसे ढंग से लोगों को उपदेश दो कि तुम्हारी सुमति उनके हृदयों में बैठ जाए, हृदयंगम हो जाए। तुम्हारा उपदेश उनके हृदय को प्रभावित करनेवाला हो। ४. यह मति ऐसी हो कि **या**=जो **'अंहोःचित्'**=पापी को भी **वरिवोवित्तरा**=अधिक-से-अधिक पूजा को प्राप्त करानेवाली **असत्**=हो। आपकी इस मति को सुनकर पापी का हृदय भी इस प्रकार प्रभावित हो कि वह पूजा में प्रवृत्त हो जाए। ५. इस प्रकार अपने उपदेश से सब बुराइयों की हिंसा करनेवाला 'कुथ हिंसायाम्' यह आदित्य 'कुत्स' कहलाता है। इसने पाप को समाप्त कर डाला है।

भावार्थ—किया हुआ यज्ञ सुख के रूप में परिवर्तित होकर यज्ञकर्ता के प्रति लौट आता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

आदर्श उपदेशक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नोऽअघशꣳसऽईशत ॥६९॥

१. 'आदित्य ब्रह्मचारी लोगों को कल्याणी मति प्राप्त करानेवाले हों', इन शब्दों पर पिछला मन्त्र समाप्त हुआ था। वह आदित्य ब्रह्मचारी स्वयं अपने जीवन को सुन्दर बनाने के लिए प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **सवितः**=सारे संसार के जन्मदाता व प्रेरक प्रभो! **त्वम्**=आप **अदब्धेभिः**=हिंसित न होनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षण के उपायों से **अद्य**=आज **नः**=हमारे **गयम्**=शरीर को **परिपाहि**=सर्वतः रक्षित कीजिए। जो स्वयं अस्वस्थ है वह औरों में स्वास्थ्य का प्रसार नहीं कर सकता। स्वास्थ्य के नियमों को भंग न करते हुए हम स्वस्थ बनें। २. हे प्रभो! आप **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं। आपकी वेदवाणी का एक-एक मन्त्र हमारा हितकर व रमणीय है। **रक्ष**=आप हमारी रक्षा कीजिए, जिससे हम **सुविताय**=सु-इत=सदा उत्तम आचरण के लिए हों और **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) सदा स्तुति करनेवाले हों। हमारा जीवन उपासनामय हो। आप 'हिरण्यजिह्व' हैं, आपका उपासक मैं भी हितरमणीय जिह्वावाला बनूँ। ३. हे प्रभो! **नः**=हमपर **अघशंसः**=बुराइयों का शंसन करनेवाला **माकिः ईशत**=शासन करनेवाला न हो जाए, अर्थात् हम किसी अघशंस की बातों में न आ जाएँ। ४. प्रभु की कृपा से व्यसनों से बचकर अपने में शक्ति को भरनेवाला 'भरद्वाज' है। यह अपने जीवन में निम्न बातें लाता है—(क) स्वास्थ्य, (ख) मधुरभाषण व दीप्ति (ग) उत्तम आचरण, (घ) स्तवन, (ङ) बुराइयों के प्रति आकृष्ट न होना।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में शक्ति भरके औरों में भी शक्ति का सञ्चार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

लक्ष्य की ओर

प्र वीरया शुचयो दद्रिरे वामध्वर्युभिर्मधुमन्तः सुतासः।
वह वायो नियुतो याह्यच्छा पिबा सुतस्यान्धसो मदाय ॥७०॥

१. पिछले मन्त्र में भारद्वाज ने प्रभु से प्रार्थना की थी कि प्रभु उसकी रक्षा करे। प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु उसे रक्षा का उपाय बताकर वसिष्ठ=इस शरीररूप गृह में निवासवाला बनने की प्रेरणा देते हैं। २. प्रभु एक गृहस्थ से कहते हैं कि **वाम्**=पति-पत्नी तुम दोनों के मलों को **वीरया**=बड़ी वीरता के साथ **प्रदद्रिरे**=खूब ही विदीर्ण कर दें, नष्ट-भ्रष्ट कर दें। कौन? (क) **शुचयः**=पवित्र सोमकण। पवित्र सोमकण वे हैं जो सात्त्विक भोजन से उत्पन्न हुए हैं। (ख) **मधुमन्तः**=जो सोमकण हमारे जीवन को मधुर बनाते हैं। इन्हीं के द्वारा शरीर स्वस्थ बनता है, मन निर्मल होता है, और मस्तिष्क उज्ज्वल बनता है, परिणामतः जीवन में माधुर्य बना रहता है। (ग) **अध्वर्युभिः सुतासः**=जो सोमकण अध्वर्युओं से पैदा किये गये हैं 'अ-ध्वर्-यु=अपने साथ हिंसा को न जोड़नेवालों से, अर्थात् न तो वे मांसाहार करते हैं और न उनकी कमाई किसी प्रकार की हिंसा से की जाती है। वस्तुतः इस प्रकार हिंसाशून्य अन्न से ही सात्त्विक सोमकण उत्पन्न होते हैं। ऐसे सोमकण सब प्रकार के मलों को समाप्त कर देते हैं। ३. प्रभु कहते हैं कि **वायो**=हे क्रियाशील जीव! तू **नियुतः वह**=इन इन्द्रियरूप घोड़ों को सञ्चालित कर। इन्द्रियाँ अश्व हैं, तू इनको अपने वश में रख और इनको मार्ग पर चला और ४. **अच्छ याहि**=लक्ष्य प्राप्त होनेवाला हो। घोड़े तेरे काबू में हों और तू निरन्तर आगे बढ़ता चल। इसी जीवन में लक्ष्य पर पहुँचने का निश्चय रख। ५. इस सबके लिए तू **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए **अन्धसः**=इस आध्यायनीय सोम का **पिब**=पान कर

और **मदाय**=जीवन में उल्लास के लिए हो। इस सोमपान ने ही तेरे जीवन में मिठास व उल्लास को भरना है।

भावार्थ—सोमपान द्वारा हम सब मलों का विदीर्ण करनेवाले बनें तथा उल्लासयुक्त होकर लक्ष्य की ओर बढ़ते चलें।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

वेदवाणी का महत्त्व

गाव॒ऽउपा॑वताव॒तं म॒ही य॒ज्ञस्य॑ र॒प्सुदा॑। उ॒भा कर्णा॑ हिर॒ण्यया॑॥७१॥

वसिष्ठ वेदवाणियों को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **गावः**=हे वेदवाणियो! **अवतम्**=मेरे हृदयरूप गुहा को (गर्त को) **उपावत**=समीपता से रक्षित करो, अर्थात् मेरा हृदय वेदवाणियों का अधिष्ठान बने, जिससे वहाँ वासनाओं का कूड़ा-कर्कट जमा हो न जाए। ये वेदवाणियाँ **मही**=महनीय हैं, पूजा की वृत्ति को उत्पन्न करनेवाली हैं। इनके अध्ययन से हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। **यज्ञस्य रप्सुदा**=ये वेदवाणियाँ यज्ञों के 'रप-सु-दा' व्यक्त प्रतिपादन को उत्तमता से देनेवाली हैं। इन वेदवाणियों में यज्ञों का उत्तमता से प्रतिपादन है। वेदों में नाना प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। इस वेदवाणी को सुनने से हमारे **उभा कर्णा**=दोनों कान **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हों। इनसे हमारा ज्ञान दीप्त हो।

भावार्थ—वेदवाणियों के अध्ययन से निम्न लाभ हैं—(क) हृदय वासनारूप मलों का स्थान नहीं बनता, (ख) मन प्रभु-प्रवण होता है, (ग) यज्ञमय कर्मों में रुचि बढ़ती है, (घ) कान ज्योतिर्मय होते हैं, अर्थात् ज्ञान बढ़ता है।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

उत्तम घर—दक्ष का दुरोण

काव्ययो॒राजानेषु क्रत्वा॒ दक्ष॑स्य दुरो॒णे। रि॒शाद॑सा स॒धस्थ॒ऽआ॥७२॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में घर के लिए 'दुरोण' शब्द आया है, जिसकी भावना है 'जिसमें से **'दुर्'**=बुराई को (ओणृ अपनयने) दूर किया गया है। वस्तुतः पति-पत्नी ने बुराइयों को दूर करके घर को अच्छाइयों से युक्त करना है। **सधस्थे**=सहस्थे=यह मिलकर रहने की जगह है। परस्पर वैर-विरोध होने पर तो घर की इतिश्री हो जाती है। यह घर **दक्षस्य**=चतुर पुरुष का है। 'योगः कर्मसु कौशलम्'=कर्मों में कुशलता का नाम योग है, अतः यह गृहपति योगी है। यह अपने घर को अधिक-से-अधिक सुन्दर बनाने का ध्यान करता है। इस घर की अच्छाइयाँ ये हैं—(क) यह घर बुराइयों से दूर है, (ख) इसमें सब मिलकर प्रेम—से रहते हैं, (ग) इसमें सब कार्य दक्षता से किये जाते हैं। किसी कार्य में भद्दापन नहीं होता। २. (क) 'वेद' प्रभु का काव्य है—**'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'**=प्रभु के इस काव्य को देखो, जो कभी न नष्ट होता है, न जीर्ण होता है। (ख) सृष्टि भी प्रभु का काव्य ही है। इसकी रचना अत्यन्त कलापूर्ण है। **काव्ययोः**=इन दोनों काव्यों में वेदरूप काव्य के **आजानेषु**=समन्तात् ज्ञान प्राप्त करने व सृष्टिरूप काव्य में **आजानेषु**=लोकहित के कार्यों के करने में **क्रत्वा**=क्रिया-संकल्प व प्रज्ञान से **रिशादसा**=(रिश+अदस्)=सब हिंसाओं को खा जानेवाले, अर्थात् समाप्त कर देनेवाले पति-पत्नी उल्लिखित घर में **आ** (आगतम्)=आएँ ३. (क) पति-पत्नी प्रभु के वेदरूप काव्य को (आजान) अच्छी प्रकार समझने का प्रयत्न करें। इसके लिए उनमें पुरुषार्थ हो, उनके हृदयों में वेदाध्ययन का संकल्प हो और

इसप्रकार वे वेद का ज्ञान प्राप्त करें। (ख) ये पति-पत्नी इस सृष्टि को भी प्रभुकाव्य की कलामयी कृति के रूप में देखें। वे इसमें सब लोगों के हित के लिए (आ-जान=जनहित) कर्म करने के संकल्पवाले हों, (ग) ये पति-पत्नी सब प्रकार की हिंसा से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम अपने सधस्थ=घर को 'दक्ष का दुरोण' बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**दक्षः**। देवता—**अध्वर्यू**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

पति-पत्नी

दैव्यावध्वर्यूऽआ गतꣳ रथेन सूर्यत्वचा। मध्वा यज्ञꣳ समञ्जाथे॥७३॥

प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि भी 'दक्ष' है। पिछले मन्त्र के पति-पत्नी का ही यहाँ भी उल्लेख है। वे १. **दैव्यौ** =देवस्य इमौ=प्रभु के हों, अर्थात् इनका झुकाव प्रकृति की ओर न हो। २. **अध्वर्यू**=ये दोनों **अ-ध्वर्-यु**=अपने साथ हिंसा का सम्पर्क न होने दें। इनका जीवन यज्ञमय हो। **'पुरुषो वाव यज्ञः'** इस उपनिषद्वाक्य को ये अपने जीवन में मूर्त्तरूप देनेवाले हों। ३. ये दोनों **सूर्यत्वचा रथेन**=सूर्य के संवरण-(त्वच् संवरणे)-वाले रथ से आएँ। जैसे सूर्य चमकता है, इसी प्रकार इनका यह शरीररूप रथ भी स्वास्थ्य के तेज से तेजस्वी लगे। इसके अन्दर सूर्य के समान प्रकाश का संस्पर्श हो (त्वच्=touch), अर्थात् यह शरीररूप रथ बाहर स्वास्थ्य के प्रकाशवाला व अन्दर ज्ञान के प्रकाशवाला हो। ४. ऐसे ये पति-पत्नी **मध्वा**=माधुर्य से **यज्ञम्**=अपने जीवन-यज्ञ को **समञ्जाथे**=सम्यक् अलंकृत करते हैं। इनके जीवन में कटुता व द्वेष को स्थान नहीं होता।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने कर्त्तव्यों को समझें और उनका पालन करें।

ऋषिः—**प्रजापतिः**। देवता—**सूर्यः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

प्रजापति के दो पुत्र

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीऽदुपरि स्विदासीऽत्।
रेतोधाऽआसन्महिमानऽआसन्त्स्वधाऽअवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥७४॥

१. **एषाम्**=इन प्रजाओं की, जिनके लिए गत मन्त्र में 'दैव्य व अध्वर्यु' बनने का उल्लेख है, **रश्मिः**=वासना, सांसारिक वस्तुओं के प्रति रस **तिरश्चीनः विततः**=आर-पार (crosswise) फैला हुआ है। किसी की किसी लोक को प्राप्त करने की कामना है और किसी की किसी वस्तु को प्राप्त करने की। २. इनकी यह वासनारूप रश्मि **अधः स्वित् आसीत्**=नीचे भी थी और **उपरि स्वित् आसीत्**=ऊपर भी थी। कुछ ने ब्रह्मलोक-प्राप्ति की कामना की तो कई सांसारिक धन-दौलत की वासना से ऊपर न उठ सके। ३. प्रजापति के एक पुत्र तो वे थे, जो सद्गृहस्थ बनकर **रेतोधाः**=सन्तान-निर्माण के लिए वीर्य का आधान करनेवाले **आसन्**=हुए और दूसरे वे **आसन्**=थे, जो **महिमानः**=प्रभु की पूजा करनेवाले हुए (मह पूजायाम्) ४. इनमें पहले 'रेतोधाः' तो **स्वधा**=अपना ही धारण करनेवाले थे। इन्हें अपनी मृत्यु के भय ने प्रजा के द्वारा अमर बनने के लिए प्रेरित किया। **'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम'**=प्रजाओं के द्वारा अमरता को प्राप्त करें। यह इनकी कामना हुई, ये **अवस्तात्**=नीचे ही रह गये, अर्थात् ब्रह्मलोक को प्राप्त न कर सके। ५. परन्तु दूसरे तो **प्रयतिः**=प्रकृष्ट संयमी जीवनवाले बनकर, प्रकृष्ट यति हुए और ये **परस्तात्**=उन सब अन्धकारों से परे उस प्रभु को पानेवाले बने।

'रेतोधाः' प्रेयमार्ग के पथिक हैं तो 'प्रयति' श्रेयमार्ग का अवलम्बन करनेवाले हैं।

पहले अपराविद्या को महत्त्व देते हैं तो दूसरे अपराविद्या से ऊपर उठकर पराविद्या को प्राप्त करते हैं। इस पराविद्या के द्वारा ये प्रजापति को प्राप्त कर सचमुच स्वयं भी प्रजापति-से बन जाते हैं। रेतोधा भी छोटे पैमाने पर प्रजापति हैं ही, एवं मन्त्र का ऋषि भी प्रजापति है।

भावार्थ—हमारी वासनाएँ नीचे की ओर न जाकर ऊपर उठें और हम प्रजापति बन पाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**। देवता—**विद्वान्**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

विश्वामित्र का स्वर्ग-निर्माण—प्रेम+कर्म=स्वर्ग

आ रोदसीऽअपृणदा स्वर्महज्जातं यदेनमपसोऽअधारयन्।
सोऽअध्वराय परि णीयते कविरत्यो न वाजसातये चनोहितः॥७५॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि विश्वामित्र है। यह सभी से स्नेह करता है, इसका किसी से भी द्वेष नहीं। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को, अर्थात् सभी प्राणियों को **आ**=सर्वथा **अपृणत्**=यह सुखी करता है। यह किसी का बुरा नहीं चाहता। किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं रखता। २. इसी का परिणाम है कि इसके लिए **महत् स्वः**=महनीय स्वर्ग **आजातम्**=उत्पन्न हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष मानव-जीवन को नरक बनाते हैं। इनसे ऊपर उठे और नरक की समाप्ति हुई। विश्वामित्र का जीवन इसलिए स्वर्गमय रहता है कि ३. **यत्**=जो **एनम्**=इसको **अपसः**=कर्म **अधारयन्**=धारण करते हैं। 'अपस्' उन कर्मों का नाम है जो व्यापक हैं (अप् व्याप्तौ), जो केवल स्वार्थ के लिए नहीं किये गये। ४. यहाँ एक ओर विश्वप्रेम है, दूसरी ओर व्यापक कर्म हैं, इन दोनों के बीच में स्वर्ग है। वस्तुतः प्रेम हो, जीवन क्रियामय हो तो फिर स्वर्ग-ही-स्वर्ग होता है। स्वर्ग के निर्माण के लिए हाथों में कर्म व हृदय में प्रेम को धारण करना आवश्यक है। कर्मों की पवित्रता के लिए 'कवि'=क्रान्तदर्शी, तत्त्वज्ञानी बनना आवश्यक है। इसका उल्लेख अभी आगे करेंगे। ५. **सः**=वह विश्वामित्र **अध्वराय**=अहिंसामय कर्मों के लिए **परिणीयते**=ले-जाया जाता है। सब देव तथा देवाधिपति प्रभु इसे अहिंसामय कर्मों में लगाते हैं। ६. यह विश्वामित्र **कविः**=कवि बनता है, क्रान्तदर्शी होता है। इसकी दृष्टि वस्तुतत्त्व को देखनेवाली होती है। ७. **अत्यः न**=निरन्तर क्रियाशील घोड़े की भाँति यह **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए होता है। जिस प्रकार अश्व (अश्नुते अध्वानम्) निरन्तर मार्ग का व्यापन करता है, अतः शक्तिशाली बना रहता है। ८. विश्वामित्र की अन्तिम विशेषता यह है कि यह 'चनोहितः' अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन 'शाकाहारी' होता है। यह परमांस से अपना मांस बढ़ाने का स्वप्न नहीं लेता। मांसाहार मनुष्य को क्रूर बनाता है, परन्तु यह तो सबसे प्रेम के मार्ग पर चलता है, अतः इसके जीवन में मांस का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सदा **चनः**=अन्न पर **हितः**=रक्खा हुआ होता है। यह अपने शरीरधारण के लिए अन्य शरीरों को समाप्त करने का विचार नहीं करता।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रेम व कर्म के समन्वय से स्वर्ग का निर्माण करनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**॥

संयमी गृहस्थ : वसिष्ठ+अरुन्धती

उक्थेभिर्वृत्रहन्तमा या मन्दाना चिदा गिरा। आङ्गूषैराविवासतः॥७६॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि वशिष्ठ है जो वशियों में श्रेष्ठ है, अतएव उत्तम निवासवाला है। जिस घर में पति-पत्नी का जीवन बड़ा संयमवाला होता है, वह घर 'वशिष्ठ' का घर कहलाता है। इस घर में पति-पत्नी दोनों—२. **उक्थेभिः**=प्रभु के स्तोत्रों के द्वारा **वृत्रहन्तमा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के अधिक-से-अधिक नाश करनेवाले होते हैं। जहाँ प्रभु का नामोच्चारण है, जहाँ महादेव का वास है, वहाँ कामदेव तो भस्म हो ही जाते हैं। इस घर में काम का सेवन नहीं होता, काम की भस्म का ही प्रयोग चलता है। जैसे स्वर्ण विष है, परन्तु स्वर्ण-भस्म अमृत हो जाती है, इसी प्रकार महादेव काम की भस्म बना देते हैं और वह भस्म प्रजा-निर्माण द्वारा मनुष्य को अमर कर देती है। ३. ये पति-पत्नी वे हैं **या**=जो **चित् आ**=निश्चय से, सर्वथा **गिरा**=वेदवाणी से, ज्ञान की वाणियों से **मन्दाना**=आनन्द अनुभव करते हैं। इन्हें स्वाध्याय के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव होता है। ४. ये पति-पत्नी **आंगूषैः**=उच्च स्वर से गाये जानेवाले (आघोष) स्तोत्रों से **आविवासतः**=प्रभु की परिचर्या करते है। जिस घर में मिलकर इस प्रकार प्रभु-स्तवन होता है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। वह घर अधिक-और-अधिक सुन्दर बनता जाता है। इस घर के पति-पत्नी 'इन्द्र+अग्नि' होते हैं। पति धन कमानेवाला व शक्तिशाली 'इन्द्र' होता है तो पत्नी घर को सदा प्रकाशमय रखनेवाली और आगे ले-चलनेवाली 'अग्नि' होती है।

भावार्थ—आदर्श गृह में पति 'इन्द्र' होता है और पत्नी 'अग्नि'।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्गायत्री**। स्वरः—**षड्जः**।

पुत्रों के लिए पवित्र कामना

उप॑ नः सू॒नवो॒ गिरः॑ शृण्वन्त्वमृत॑स्य॒ ये। सुमृ॒ड्ी॑का भ॑वन्तु नः॥७७॥

पिछले मन्त्र में वर्णित पति-पत्नी प्रार्थना करते हैं कि—**ये**=जो **नः**=हमारे **सूनवः**=पुत्र हैं, वे **गिरः**=वाणियों को **उपशृण्वन्तु**=समीपता से सुननेवाले हों। उन शब्दों को, जो **अमृतस्य**=उस अमर प्रभु के हैं। पिछले मन्त्र में पति-पत्नी के वेदाध्ययन का उल्लेख है। वे वेदवाणियों में आनन्द लेते थे। वस्तुतः स्वाध्याय का आनन्द अनुपम है। वे यह चाहते हैं कि उनकी सन्तान भी उन्हीं की भाँति ज्ञान की वाणियों में रुचिवाले हों। जिस समय सन्तान पढ़ने-पढ़ाने में रुचिवाले होते हैं, उस समय उनका जीवन संयमी व उत्तम बना रहता है। माता-पिता चाहते हैं कि ये सदा उत्तम, अमृत वाणियों को सुनें और **नः**=हमारे लिए **सुमृडीकाः**=उत्तम सुख देनेवाले **भवन्तु**=हों। माता-पिता का सुख सन्तान की उत्तमता में ही निहित है। माता-पिता सन्तान को उत्तम बनाते हैं तो अपने ही जीवन को सुखी करते हैं। एवं, सन्तान-निर्माण के लिए किया गया स्वार्थत्याग उत्तम त्याग है। इस उत्तम त्याग को करनेवाला 'सुहोत्र' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'विश्वेदेवाः' है, वस्तुतः स्वाध्याय सब दिव्य गुणों को जन्म देगा ही।

भावार्थ—हमारी सन्तान स्वाध्याय-रुचि बने, जिससे उनके जीवन उत्तम रहें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रामरुतौ**। छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य की कामना

ब्रह्मा॑णि मे म॒तय॒: शꣳसु॒तास॒: शुष्मं॑ऽइयर्ति॒ प्रभृ॑तो मे॒ऽअद्रिः॑।
आ शा॑सते॒ प्रति॑ हर्यन्त्यु॒क्थेमा हरी॑ वहत॒स्ता नो॑ऽअच्छ॑॥७८॥

१. **मे**=मेरी **मतयः**=मतियाँ, इच्छाएँ, विचारपूर्वक निश्चित की गई कामनाएँ **ब्रह्माणि**

(ब्रह्म वेदः, तपः, तत्त्वम्)=वेद, तप व तत्त्व (वास्तविक सत्ता) को **आशासते**=चाहती हैं (आशास्=इच्छायाम्), अर्थात् मेरी कामना यह होती है कि (क) मैं वेदाध्ययन करूँ, (ख) मेरा जीवन तपस्वी हो, (ग) और तत्त्व तक पहुँच सकूँ, वास्तविकता (Reality) को पहचानूँ। 'आत्मतत्त्व को छोड़कर और सब कुछ नश्वर है', इसको अनुभव करूँ। ऐसा करने पर **शुष्मः**=शत्रुओं का शोषकबल **इयर्ति**=मुझे प्राप्त होता है। मैं प्रभु के समीप पहुँचता हूँ और उस शक्ति को प्राप्त करता हूँ जो मेरे अन्तःस्थित वासनारूप शत्रुओं का शोषण कर देती है। महादेव मेरे हृदय में हैं तो कामदेव को वहाँ आने में भय लगता है। २. **सुतासः**=शरीर में रुधिरादि के क्रम से उत्पन्न सोमकण मुझे **शम्**=शान्ति की **प्रति** ओर **हर्यन्ति**=ले-चलते हैं, अर्थात् इन सोमकणों की रक्षा होने पर मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न नहीं होता। इसी का परिणाम है कि **मे**=मेरा **अद्रिः**=यह अन्नमयकोश (अद्रिः कस्मात्? अत्ति-नि० ४।४)=जो खाता है, **प्रभृतः**=प्रकर्षेण पोषित होता है। सोम के धारण से नीरोगता के कारण यह वज्रतुल्य बन जाता है। (**अद्रिः वज्रम्**) अथर्व के **'यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे'** इस मन्त्रभाग में शरीर को 'वज्र' कहा गया है, ३. अब **इमा हरी**=ये मेरे ज्ञानेन्द्रियपञ्चक व कर्मेन्द्रियपञ्चकरूप घोड़े **उक्था**=प्रभु के स्तोत्रों को **वहतः**=धारण करते हैं, अर्थात् मेरी इन्द्रियों से सदा प्रभु का स्तवन चलता है। इन इन्द्रियों ने अब अन्य बोझों को परे फेंककर स्तवनरूप बोझ को ही ढोया है और इस प्रकार **ता**=वे इन्द्रियरूप घोड़े **नः**=हमें **अच्छ**=अपने लक्ष्य की ओर ले-चल रहे हैं। जो मनुष्य प्रभु का स्तवन करता है, वह मार्गभ्रष्ट न होने से लक्ष्य पर पहुँचता है। मार्गभ्रष्ट न होने से ही यह 'अगस्त्य' बना रहता है, पाप-पर्वत (अग) का संहार करनेवाला (स्त्यै संघाते)। इस अगस्त्य की कामना यह होती है—(क) उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर हो, (ख) उसका शरीर सोम से नीरोग व शान्तिवाला हो (ग) उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती चलें।

भावार्थ—अगस्त्य=पाप-समूह का संहार करनेवाला बनने का उपाय यह है कि हम बुद्धि को ज्ञानोपार्जन में लगाएँ, शरीर को सोमरक्षा से नीरोग बनाएँ और इन्द्रियों को प्रभु-स्तवन में प्रेरित करें।

ऋषिः—**अगस्त्यः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**त्रिष्टुप्**। स्वरः—**धैवतः**॥

अगस्त्य का प्रभुवन्दन

अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु न त्वावाँ२॥ऽअस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥७९॥

१. अगस्त्य प्रयत्न करता है कि उसकी इन्द्रियाँ प्रभु-स्तवन में लगी रहें, उसकी बुद्धि ब्रह्म की ओर चले, परन्तु जब वह अनुभव करता है कि संसार का प्रलोभन भी अत्यन्त प्रबल है तब व्याकुल हो उठता है और प्रभु से कहता है कि हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **आ**=चारों ओर, सर्वत्र **ते अनुत्तम्**=आपसे अप्रेरित **नकिः नु**=निश्चय से कुछ भी नहीं है। एक-एक पत्ता आपकी प्रेरणा से हिल रहा है। आपकी प्रेरणा मुझे भी प्राप्त हो और मैं मार्गभ्रष्ट होने से बचा रह सकूँ। २. **त्वावान्**=आपके समान **विदानः**=ज्ञानी **देवता**=देव **न अस्ति**=नहीं है। ३. हे **प्रवृद्ध**=सदा से पूर्ण वृद्धि को प्राप्त प्रभो! आप **यानि**=जिन कार्यों को करेंगे अथवा **कृणुहि**=कर रहे हैं, उन कार्यों को न **जायमानः**=न तो उत्पन्न होनेवाला व्यक्ति **न जातः**=न ही उत्पन्न हो चुका व्यक्ति **नशते**=व्याप्त करता है, अर्थात् आपके समान

निर्माण की शक्ति न किसी में थी और न ही किसी में हो पाएगी। क्या बड़े-से-बड़ा वैज्ञानिक एक छोटे से फल को बना सकता है? क्या बिना पँखों को गति दिये, चील की भाँति शान्तभाव से मनुष्य का वायुयान उड़ सकता है?

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रेरक हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वमहान् हैं। उनका स्तवन करता हुआ मैं अपने जीवन-निर्माण का भार भी उन्हीं पर छोड़ता हूँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

त्वेषनृम्ण (दीप्त बलवाला)

तदिदास॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञऽउ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यं विश्वे॒ मद॒न्त्यूमाः॑ ॥८०॥

१. **तत्**=वह दूर-से-दूर भी वर्त्तमान, (तत्=that) सर्वव्यापक प्रभु (तनु विस्तारे) **इत्**=निश्चय से **भुवनेषु**=सारे लोकों में **ज्येष्ठम्**=बड़े **आस**=हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं, सर्वमहान् हैं। सब गुणों की चरम सीमा प्रभु हैं। २. प्रभु वे हैं **यतः**=जिनसे जीव भी **उग्रः**=उदात्तस्वरूपवाला व **त्वेषनृम्णः**=दीप्तबलवाला (नृम्ण=Power, Courage) **जज्ञे**=हो जाता है। अग्नि के सम्पर्क में आकर जैसे लोहशलाका अग्निमय हो जाती है, उसी प्रकार प्रभु के सम्पर्क में जीव उग्र व दीप्त हो उठता है। ३. इस प्रकार उग्र, तेजस्वी **जज्ञानः**=होता हुआ यह उपासक **सद्यः**=झटपट **शत्रून्**=ध्वंसकशक्तियों को **निरिणाति**=निश्चय से नष्ट कर देता है। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर वह सुगमता से शत्रुओं का संहार कर पाता है। ४. इस प्रकार प्रभु वे हैं **यम् अनु**=जिनके पीछे चलकर, जिनके अनुयायी बनकर **विश्वे**=सब **ऊमाः**=शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं। काम-क्रोध की पूर्ण विजय में ही आनन्द है। इस विजय के पश्चात् ही कामरूप आवरण के दूर होने पर हमारा ज्ञान चमकता है और हम प्रस्तुत मन्त्र के ऋषि 'बृहद्दिव'=महान् ज्ञानवाले बन पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की ज्येष्ठता को अनुभव करें, प्रभु के सम्पर्क से दीप्तबलवाले बनें, शत्रुओं का संहार करें, आनन्द का लाभ करनेवाले हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**।

प्रभु के सच्चे उपासक
पावकवर्ण, शुचि, विपश्चित्

इ॒माऽउ॒ त्वा पु॑रूवसो॒ गिरो॑ वर्द्धन्तु॒ या मम॑।
पा॒व॒कव॑र्णाः॒ शुच॑यो वि॒पश्चि॑तो॒ऽभि स्तोमै॑रनूषत ॥८१॥

१. 'मेधातिथि' वह व्यक्ति है जो इस संसार में बुद्धिपूर्वक चलता है। समझदार व्यक्ति सर्वत्र प्रभु की शक्ति को अनुभव करता है और निम्न शब्दों में प्रभु का स्तवन करता है—हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक निवास देनेवाले प्रभो! **इमा या मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपका **वर्धन्तु**=वधर्न करें, अर्थात् मैं अपनी वाणी से सदा आपका स्तवन करनेवाला बनूँ। जब हम अपनी बागडोर प्रभु के हाथ में सौंपते हैं, पूर्णरूप से उसके कहने पर चलते हैं, तब हमारे शरीर स्वस्थ रहते हैं और हमारे मन में किसी प्रकार के विकार नहीं आते। २. मेधातिथि से प्रभु कहते हैं कि **स्तोमैः**=स्तुतियों से, स्तोत्रों द्वारा **अभ्यनूषत**=मेरा स्तवन वे व्यक्ति करते हैं जो (क) **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले हैं—स्वास्थ्य के कारण जिनके चेहरे पर ज्योति टपकती है, जो अग्नि के समान

चमकते हैं। (ख) **शुचयः**=जिनका मन शुचि, पवित्र है। जिनके मन 'राग-द्वेष व मोह' रूप मलों से मलिन नहीं हैं। (ग) स्वस्थ्य व मानस पवित्रता से इसकी बुद्धि बड़ी उज्ज्वल व सूक्ष्म बनती है और यह सभी वस्तुओं को बड़ी बारीकी से, विशेषरूप से (वि) देखता हुआ (पश्) उनका ठीक रूप में ही चिन्तन करता है (चित्) इसीलिए 'विपश्चित्' कहलाता है। **विपश्चितः**=ये ज्ञानीलोग प्रभु के सच्चे उपासक हैं, इसीलिए हे मेधातिथे! तू 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बन।

भावार्थ—हम सदा प्रभु-स्तवन करनेवाले हों। हमारी कोई भी क्रिया प्रभु को भूलकर न हो तो हम स्वस्थ बनेंगे, निर्द्वेष होंगे और तीव्र बुद्धि का सम्पादन कर पाएँगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

सबमें प्रभु की ज्योति

यस्यायं विश्वऽआर्यो दासः शेवधिपाऽअरिः।
तिरश्चिद्दर्ये रुशमे पवीरवि तुभ्येत्सोऽअज्यते रयिः॥८२॥

१. मेधातिथि 'विपश्चित्' बनकर अनुभव करता है कि प्रभु तो वे हैं **यस्य**=जिसका **अयम् विश्वः**=यह सारा संसार है, चाहे वे **आर्यः**=ब्राह्मण हैं (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) **दासः**=शूद्र हैं, **शेवधिपा**=खज़ानों के रक्षक वैश्य हैं अथवा **अरिः** (to attack)=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले क्षत्रिय हैं। सारा समाज चार भागों में बँटा है। यह सारा समाज उस प्रभु का प्रिय है। 'ब्राह्मण' ही प्रभु के विशेष प्यारें हों ऐसी बात नहीं। वे प्रभु सर्वत्र समवस्थित हैं, सबके अन्दर उनका निवास है। मेधातिथि का दृष्टिकोण यही बनता है कि सबमें प्रभु की सत्ता को अनुभव करना ही प्रभु का सच्चा उपासक बनना है। २. 'अर्य'=पुरुष वह है जो (अर्यः=स्वामी) अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। इन्द्रियों का दास न होने से ही अपनी शक्ति को सुरक्षित कर पाया है, वह जीर्णशक्तिवाला नहीं हो गया। 'रुशम' वह है जिसके अन्दर ज्ञान की ज्योति जगमगा रही है तथा 'पवीरवान्' वह है जो अपने शरीर को सात्त्विक अन्न व व्यायाम से वज्रतुल्य बना पाया है। इन सबके अन्दर एक 'रयि'=सम्पत्ति विद्यमान है, एक विभूति का अंश विद्यमान है। मन्त्र में कहते हैं कि **'अर्ये'**=जितेन्द्रिय में **रुशमे**=दीप्त ज्ञानवाले पुरुष में तथा **पवीरवि**=वज्रतुल्य शरीरवाले पुरुष में **तिरः चित्**=छिपी हुई **रयिः**=जो सम्पत्ति व विभूति है **सः**=वह **तुभ्य इत् अज्यते**=आपकी ही तो प्रकट हो रही है। ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपनी 'जितेन्द्रियता, ज्ञानदीप्ति व शारीरिक बल' का कभी गर्व नहीं करता, क्योंकि वह इस सबको प्रभु की ही महिमा के रूप में देखता है।

भावार्थ—सभी व्यक्ति प्रभु के हैं। सर्वत्र प्रभु की ज्योति ही दीप्ति का कारण बन रही है।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**निचृत्सतः पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

प्रभु ही सत्य

अयꣳ सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रऽइव पप्रथे।
सत्यः सोऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्राज्ये॥८३॥

१. संसार में कभी-कभी इस प्रकार के व्यक्ति भी दिख जाते हैं, जिनके लिए वेद कहता है कि **'तितिक्षन्ते अभिशस्तिं जनानाम्'**=लोगों के अपशब्दों को मुस्कराते हुए सह

लेते हैं। 'ऐसा वे क्यों कर पाते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर मन्त्र में इन शब्दों में दिया है कि **ऋषिभिः**=इन तत्त्वदर्शी लोगों ने **सहस्त्रम्** (स+हस्)=मुस्कराहट के साथ **अयम्**=यह प्रभु **सहस्कृतः**=अपना बल बनाया है। प्रभु का स्मरण करनेवाला वाग्बाणों से घायल नहीं होता। २. वे प्रभु **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष की भाँति **पप्रथे**=विस्तृत हैं। जहाँ आकाश, वहाँ प्रभु। वे प्रभु सर्वत्र है। सबमें विद्यमान हैं। ३. **सत्यः सः**=वे प्रभु ही सत्य हैं। प्रभु के अंतिरिक्त सभी अस्थिर हैं, एकमात्र प्रभु ही स्थिर व एकरस हैं। संसार परिवर्तनशील है, स्थल जल बनता है तो जल स्थल। जीव आज घोड़ा बना है तो कल हाथी और परसों मनुष्य। पूर्ण सत्य प्रभु ही हैं। ४. **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **गृणे**=मुझसे स्तुत होती है। मैं इस प्रभु की ही महिमा का स्तवन करता हूँ। **यज्ञेषु**=सब श्रेष्ठ कर्मों में **शवः**=वे प्रभु ही बल हैं। प्रभुकृपा से ही सब यज्ञपूर्ण होते हैं। सब यज्ञों के होता प्रभु ही हैं। **विप्रराज्ये**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवालों के जीवन की राज्ये=(राज्=दीप्तौ) दीप्ति में वस्तुतः उस प्रभु का ही **शवः**=बल है। जो भी व्यक्ति जितने अंश में चमकता है, यह सब चमक उस प्रभु की है। एवं, हमें अपने यज्ञों व दीप्तियों का गर्व न कर प्रभु के प्रति नतमस्तक होना है।

भावार्थ—प्रभु को हम अपनी ढाल बनाएँ। प्रभु को धारण करके यज्ञशील व दीप्तिमय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः**। देवता—**सविता**। छन्दः—**निचृज्जगती**। स्वरः—**निषादः**॥

प्रभु ही रक्षक

अदब्धेभिः सवितः पायुभिष्ट्वꣳ शिवेभिरद्य परि पाहि नो गयम्।
हिरण्यजिह्वः सुविताय नव्यसे रक्षा माकिर्नोऽअघशꣳसऽईशत॥८४॥

१. पिछले मन्त्र में कहा गया था कि ऋषि लोग प्रभु को ही अपना सहस्=बल मानते हैं। प्रभु को अपनी शक्ति बनानेवाला यह 'भरद्वाज' बनता है, अपने में शक्ति को भर लेता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि **सवितः**=हे सर्वप्रेरक सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अद्य**=आज **अदब्धेभिः**=न हिंसित होनेवाले, न दबनेवाले **शिवेभिः**=कल्याणकर **पायुभिः**=रक्षणों से **नः**=हमारे **गयम्**=इस शरीररूप घर को व प्राणों को **परिपाहि**=सर्वतः सुरक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभुकृपा से ही हमारा जीवन उत्तम बन पाता है, प्रभु के रक्षण अहिंसित व शिव हैं। उनसे मैं स्वस्थ, निर्मल व दीप्त बनता हूँ। २. वे प्रभु **हिरण्यजिह्वः**=हितरमणीय जिह्वावाले हैं, उनकी एक-एक प्रेरणा जीवन के हित का साधन करनेवाली व अत्यन्त सुन्दर है। उस प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति **सुविताय**=सदा **सु इत**=उत्तम आचरण के लिए होता है, कभी दुरितों में नहीं फँसता। **नव्यसे**=(नू स्तुतौ) यह प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होता है, यह प्रकृति के आकर्षण का शिकार नहीं हो जाता। प्रकृति का सौन्दर्य भी उसे प्रभु का स्तवन करते ही प्रतीत होता है। ३. यह 'भरद्वाज' प्रभु से आराधना करता है कि **अघशंसः**=पाप का शंसन करनेवाला कोई व्यक्ति **नः**=हमारा **माकिः ईशत**=ईश न हो जाए, अर्थात् उसकी बातों से प्रभावित होकर हम पाप में प्रवृत्त न हो जाएँ। पाप-प्रशंसकों की बातों में न आकर ही हम अपनी शक्ति को स्थिर रखनेवाले 'भरद्वाज' बने रह सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का रक्षण अदब्ध व शिव है। प्रभु की प्रेरणा हितरमणीय है। उसका सुननेवाला शुभमार्ग से विचलित नहीं होता और दुष्टों की बातों से बहक नहीं जाता।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**वायुः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि

आ नो यज्ञं दिविस्पृशं वायो याहि सुमन्मभिः।
अन्तः पवित्रऽउपरि श्रीणानोऽयꣳ शुक्रोऽअयामि ते ॥८५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **वायो**=निरन्तर क्रियाशील जीव! (वा=गति) तू **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यजुर्वेद में प्रतिपादित इस यज्ञरूप कर्म को **आयाहि**=सर्वथा प्राप्त हो। यह यज्ञरूप कर्म **दिविस्पृशम्**=तुझे द्युलोक को स्पर्श करानेवाला है। यज्ञों से तू स्वर्ग को प्राप्त करेगा। इन यज्ञों को तूने **सुमन्मभिः**=उत्तम ज्ञानों के साथ प्राप्त होना (मन्=अवबोध)। ज्ञानशून्य यज्ञों में तो अपवित्रता के आने की आशंका है। वायु ऋषि को प्रभु ने यजुर्वेद का ज्ञान दिया और कहा कि इस ज्ञान के साथ चलनेवाले 'दिविस्पृश' यज्ञों को तू निरन्तर करनेवाला बनना। २. अब वायु प्रभु को उत्तर देते हुए कहते हैं कि हे पितः! मैं (क) **अन्तः पवित्रः**=अन्दर से पवित्र बनता हुआ (ख) **उपरि श्रीणानः**=बाहरी जीवन को कुछ तपस्वी बनाता हुआ, परिपक्व करता हुआ (ग) **अयम्**=यह मैं **शुक्र**=(शुक् गतौ) निरन्तर क्रियाशील बनता हुआ और परिणामतः (शुच् दीप्तौ) दीप्त होता हुआ **ते आयामिः**=आपके समीप (अय गतौ, व्यत्यय से परस्मैपद) आता हूँ।

प्रभु ने जीव को ज्ञानपूर्वक यज्ञों को अपनाने के लिए कहा था, जीव उसका बड़ी सुन्दरता से उत्तर देता हुआ कहता है कि मैं पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति का समन्वय करता हुआ अवश्य आपके समीप प्राप्त होनेवाला बनूँगा। अन्दर की पवित्रता के लिए बाह्य तप आवश्यक है। उसके बिना जीवन विलासी बनेगा न कि पवित्र। दीप्ति के लिए क्रियाशीलता आवश्यक है। यहाँ 'शुक्र' शब्द में दोनों का भाव निहित है। इस प्रकार के जीवनवाला व्यक्ति अन्त तक **'जमदग्नि'**=जीमनेवाली अग्निवाला, अर्थात् ठीक जठराग्निवाला बना रहता है। इसका शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ता नहीं।

भावार्थ—जमदग्नि के जीवन में यज्ञ, ज्ञान, पवित्रता, तप, क्रियाशीलता व दीप्ति की साधना निरन्तर चलती है।

ऋषिः—**तापसः**। देवता—**इन्द्रवायू**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

नीरोगता+निर्मलता अनमीव+सुमनाः=तापस=जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्रवायू सुसन्दृशा सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्वऽइज्जनोऽनमीवः सङ्गमे सुमनाऽअसत् ॥८६॥

१. 'इन्द्र' वह है जो इन्द्रियों का अधिष्ठाता है, दूसरे शब्दों में जितेन्द्रिय है। इन्द्रियाँ उसके घोड़े हैं, वह उनपर दृढ़ता से आरूढ़ है। आत्मवश्य इन्द्रियों से वह इस विषयात्मक संसार में विचरता है, इसी कारण वह विषयों की दलदल में नहीं फँसता। इन्हीं इन्द्रियों को वश में करके मनुष्य त्रिभुवन का विजेता बनता है, सिद्धि को प्राप्त करता है। २. 'वायु' शब्द क्रियाशीलता के द्वारा सब मलों के हिंसन का सूचन करता है (वा गतिगन्धनयोः, गन्धनं=हिंसनम्) जबतक क्रिया में लगे रहते हैं किसी प्रकार के अवाञ्छनीय विचार मन में उत्पन्न नहीं होते। खाली हुए और बुराइयाँ आईं। खाली मन ही अशुभ विचारों का पात्र बनता है। ३. **इन्द्रावायू**=जितेन्द्रियता और क्रियाशीलता **सुसन्दृशा**=जब (सम्) एक ही (दृश्) दिखती हैं तो बड़ी ही (सु) उत्तम प्रतीत होती है। अकेली जितेन्द्रियता भी पर्याप्त

नहीं, अकेली क्रियाशीलता भी अधूरी है। ये दोनों इकठी ही मानव-जीवन को सुन्दर बनाती हैं। अतएव **सुहवा**=उत्तमता से पुकारने योग्य हैं। **इह**=इस अपने जीवन में हम दोनों की ही **हवामहे**=आराधना करते हैं। प्रभुकृपा से हम जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र) और क्रियाशील (वायु) हों। ४. इन दोनों तत्त्वों का होना इसलिए आवश्यक है कि **यथा**=जिससे **नः**=हमारे **सर्व इत् जनः**=सभी मनुष्य **अनमीवः**=नीरोग हों और **संगमे**=मिलकर चलने में **सुमनाः**=सदा उत्तम मनवाले **असत्**=हों। स्वास्थ्य के लिए जितेन्द्रियता सर्वमहान् साधन है। चरक कहते हैं कि 'हिताशी स्यात्' मिताशीस्यात्, कालभोजी, जितेन्द्रियः'=यदि स्वस्थ बनना चाहते हो तो (क) पथ्य का, परिमित मात्रा में, समय पर सेवन करो और (ख) जितेन्द्रिय बनो। पथ्य भी हो, मात्रा भी ठीक हो, समय पर भोजन चले, परन्तु जितेन्द्रियता के अभाव में यह सब व्यर्थ हो जाता है। एवं, इन्द्र ही स्वस्थ रहता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर क्रियाशील रहता है वही राग-द्वेष आदि से ऊपर उठ पाता है। उसका मन सदा निर्मल बना रहता है। जितेन्द्रियता नीरोगता का कारण है तो क्रियाशीलता निर्मलता का। जितेन्द्रियता शरीर को दीप्त करती है तो क्रियाशीलता मन को। ५. यह जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता ही सच्चा तप है। इस तप के जीवनवाला 'तापस' इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में जितेन्द्रियता के साथ क्रियाशीलता हो, जिससे कि हम 'अनमीव व सुमन', नीरोग व निर्मल बन पाएँ।

ऋषिः—**जमदग्निः**। देवता—**मित्रावरुणौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

जमदग्नि का रोग व क्रोध शमन

ऋधगित्था स मर्त्यः शशमे देवतातये।
यो नूनं मित्रावरुणावभिष्टयऽआचक्रे हव्यदातये॥ ८७॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि-हम 'इन्द्र और वायु' इन दोनों तत्त्वों को अपने जीवन में अपनाएँ। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का सूचक है, तो 'वायु' क्रियाशीलता का। **इत्था**=इस प्रकार इन दोनों को अपनाने से **ऋधक्**=सचमुच **सः मर्त्यः**=वह मनुष्य **'शशमे**=अपने शरीर में रोगों को शान्त करता है और मन में क्रोध को है। इस प्रकार यह अपने शरीर व मन को स्वस्थ करके **देवतातये**=दिव्य गुणों के विस्तार के लिए अपने को तैयार करता है। वस्तुतः स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मन दिव्य गुणों के लिए एक उर्वरा भूमि है। २. ऐसा कर वह पाता है **यः**=जो **नूनम्**=निश्चय से **मित्रावरुणौ**=प्राणापान को **अभिष्टये**=शरीर व मानस रोगों पर आक्रमण के लिए **आचक्रे**=नियत कर देता है, अर्थात् जो व्यक्ति प्राणसाधना करता है उसका शरीर भी स्वस्थ रहता है, मन भी निर्मल बना रहता है। इस प्रकार यह व्यक्ति **हव्यदातये**=कर्मफल के काटने के लिए होता है (दा लवने), अर्थात् कर्मबन्धन से ऊपर उठ पाता है। अभिष्टि=आक्रमण। प्राणापान शरीर के पहरेदार हैं, ये शरीर में आनेवाले रोग व मलों पर आक्रमण करते हैं। असुरों ने आक्रमण किया, परन्तु प्राणापान से टकराकर वे मिटी के ढेले के समान पत्थर से टकराकर चकनाचूर हो गये। ये मित्रावरुण 'प्राणापान' है, साथ ही ये 'स्नेह व द्वेष-निवारण' की देवता हैं, ये मनुष्य को 'काम' से ऊपर उठाकर कर्मबन्धन से भी मुक्त करते हैं, अतः इन्हें 'हव्यदातये' कर्मबन्धन के विच्छेद के लिए सदा पहरेदार के रूप में नियुक्त करना उपयुक्त है। 'हव्यदातये' का अर्थ शतपथ के अनुसार 'यजमान' के लिए है। प्राणसाधना से काम पर विजय पाकर हम सच्चे यजमान बनते हैं। ३. ८५वें मन्त्र का ऋषि 'जमदग्नि' है, ८६वें का 'तापस' है और ८७ का 'जमदग्नि'। एवं

जमदग्नि से प्रारम्भ है और जमदग्नि पर समाप्ति है, बीच में 'तापस' है। एवं, संकेत स्पष्ट हैं कि जमदग्नि ने यदि जमदग्नि बने रहना है तो आवश्यक है कि वह 'तापस' बना रहे, बच्चा जमदग्नि है, तीव्र जाठराग्निवाला है। यदि वह जीवन में तपस्वी बना रहेगा तो अन्त तक इसकी जठराग्नि भी बनी रहेगी। अन्यथा आराम का जीवन बिताता हुआ यह अपने विलास से जठराग्नि का विनाश तो कर ही बैठेगा और तब कितने ही रोग इसे आ घेरेंगे एवं, 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' यह कितना सुन्दर क्रम है। जमदग्नि ऋषि के मन्त्रों को इकठा कर देने पर इस क्रम का महत्त्व विनष्ट हो जाता है, अतः वेद मन्त्रों का क्रम भी अपरिवर्तनीय-सा ही प्रतीत होता है।

भावार्थ—हमारा जीवन 'जमदग्नि, तापस, जमदग्नि' का जीवन हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः**। देवता—**अश्विनौ**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणापान की साधना

आ यातमुप भूषतं मध्वः पिबतमश्विना।
दुग्धं पयो वृषणा जेन्यावसू मा नो मर्धिष्टमा गतम्॥८८॥

१. प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'अश्वनौ' प्राणापान हैं। इनकी साधना करके इनको अपने वशमें करनेवाला 'वशिष्ठ' प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—२. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **आयातम्**=सर्वत्र प्राप्त होवो। 'अशूङ् व्याप्तौ' से अश्विनी शब्द बना है। सारे शरीर में व्याप्त होनेवाले। 'प्राणापान' का उद्देश्य इन्हीं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचने से है, जिस-जिस अङ्ग में ये प्राणापान पहुँचते हैं, वहाँ-वहाँ की मलिनता को भस्म करके ये उस-उस अङ्ग को पूर्ण नीरोग बनाते हैं। वस्तुतः किसी स्थानविशेष में इनके ठीक-ठीक न पहुँचने से उस-उस स्थान के अङ्ग मृत होना आरम्भ हो जाते हैं, शायद यही केंसर का मूल हो। प्राणसाधना से उस अङ्ग का जीवित किया जा सकना सम्भव है। एवं, एक योगी केन्सर का शिकार नहीं होता, हुए-हुए केंसर को भी यह दूर कर सकता है। २. इस प्रकार हे प्राणापानो! मेरे अङ्गों को नीरोग करके उन्हें **उपभूषतम्**=स्वस्थ्य व अपने-अपने कार्य में कुशलता से अलंकृत करो। मेरी आँख दृष्टिशक्ति से सुशोभित हो, तो कान सुनने की शक्ति से अलंकृत हो जाएँ। इस प्रकार हे प्राणापानो! तुम मेरे सारे शरीर को सुशोभित कर दो। ३. **मध्वः पिबतम्**=इस अलंकरण प्रक्रिया के लिए तुम अन्न के सारभूत् मधु, अर्थात् सोम का पान करो। तुम्हारी साधना से मेरे अन्दर सुत (उत्पन्न हुआ) सोम मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रविष्ट होकर उसे स्वस्थ बनाये। यह वीर्यशक्ति ही (वि=विशेषरूप से ईर=) रोगों व विकारों को कम्पित करनेवाली हो। इसी से सब अङ्ग नीरोग होकर सुशोभित होंगे। ४. इस वीर्यरक्षा के द्वारा **पयः**=अप्यायन को **दुग्धम्**=मुझमें प्रपूरित करो (दुह प्रपूरणे)। 'पयः' शब्द दूधके लिए भी इसी कारण प्रयुक्त होता है कि यह अप्यायन करनेवाला है। (ओप्यायी वृद्धौ)। यदि शरीर में वीर्य सुरक्षित होता है तो यह एक-एक अङ्ग के अप्यायन का कारण बनता है। ५. **वृषणा**=हे प्राणापानो! आप 'वृषणा' हो, मुझे शक्तिशाली बनानेवाले हो। ६. **जेन्यावसू**=मेरे लिए सब वसुओं को जीतनेवाले हो। निवास के लिए आवश्यक तत्त्व ही वसु हैं। इस प्राणसाधना से वे सब वसु प्राप्त होते हैं। ७. **नः**=हमें **मा**=मत **मर्धिष्टम्**=हिंसित करो। ये प्राणापान हमें नीरोग व शक्तिशाली बनाकर पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला बनाएँ। ८. **आगतम्**=ऐसे ये प्राणापान मुझे प्राप्त हों। मेरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग में इनकी गति हो। मन्त्र का प्रारम्भ 'आयातम्' शब्द से था, समाप्ति 'आगतम्' पर है। दोनों की भावना एक ही है

(या=गम)। वस्तुतः प्राणापान का लाभ तभी है जब ये शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुँचे। एक गहरा श्वास लेकर सारे शरीर में प्राण को पहुँचाने का प्रयत्न करें। अपान के समय उसे पूरे रूप से बाहर फेंकें। वस्तुतः पूरक व रेचक तो आनुपातिक ढंग से ही चलते हैं। जितना रेचक ठीक होगा उतना ही पूरक भी ठीक हो जाएगा। इस मन्त्र का ऋषि इस प्राणापान को वशवर्ती करनेवाला वशिष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हम पूर्ण नीरोगता का लाभ करें।

ऋषिः—**कण्वः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

कण्व का संग्रह—मस्तिष्क, हृदय, हाथ—ज्ञान, सत्य, यज्ञ

प्रैतु ब्रह्मणस्पतिः प्र देव्येतु सूनृता।
अच्छा वीरं नर्यं पङ्क्तिराधसं देवा यज्ञं नयन्तु नः॥८९॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्राणसाधना करनेवाला वसिष्ठ कण-कण करके उत्तमताओं का संग्रह करता है। इसी कारण 'कण्व' कहलाता है। वह कहता है—२. **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता, ज्ञान का पति **प्र एतु**=हमें प्रकर्षेण प्राप्त हो। (ब्रह्म=वेद) मेरा मस्तिष्क ज्ञानाग्नि से दीप्त हो। वह ब्रह्मणस्पति का अधिष्ठान बने। ३. **देवी**=सब दिव्य गुणों की जननी **सूनृता**=(सु+ऊन+ऋत) उत्तमता से दुःखों का परिहाण करनेवाली सत्यवाणी **प्र एतु**=हमें खूब प्राप्त हो। मेरा हृदय इस 'सूनृता देवी' का निवासस्थान बने। मैं सत्य वाणी ही बोलूँ। सत्य को भी इस उत्तमतासे बोलूँ कि वह औरों के दुःखों का परिहरण करनेवाला हो। ४. **देवाः**=सब देव, सत्य के द्वारा प्राप्त हुए-हुए सब दिव्य गुण **नः**=हमें **यज्ञम्**=यज्ञ को **अच्छ**=आभिमुख्येन **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ, अर्थात् हमारी रुचि यज्ञों की ओर हो। हमारा मस्तिष्क ज्ञान का अधिष्ठान बने, हृदय सत्यवाणी का और इसी प्रकार हमारे हाथ यज्ञों में व्याप्त रहें जो यज्ञ **वीरम्**=(वि+ईर) हमारे से बुराइयों को कम्पित करके दूर भगा देते हैं। **नर्यम्**=जो यज्ञ नरहित को साधनेवाले हैं तथा **पंक्तिराधसम्**=पाँचों को सिद्ध करनेवाले हैं (राध=सिद्ध करना)। यहाँ पाँच शब्द कर्मेन्द्रिय पञ्चक, ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, अन्तःकरण का अवयव पञ्चक (हृदय, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) तथा प्राणपञ्चक के लिए है। यज्ञ इन सबके लिए हितकर है। यज्ञ से वृत्ति सुन्दर होती है, वृत्ति के सुन्दर हो जाने पर ये सब सुन्दर हो जाते हैं। एवं, कण्व कण-कण करके सब दिव्य गुणों का संग्रह कर लेता है।

भावार्थ—प्राणापान की साधना द्वारा वसिष्ठ बनकर हम कण-कण करके अच्छाइयों का संग्रह करनेवाले बनें। हमारा मस्तिष्क ब्रह्मणस्पति का निवास-स्थान हो, हृदय सूनृता देवी का तथा हाथ यज्ञों के आश्रय बनें।

ऋषिः—**त्रितः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

कर्म, ज्ञान, स्तुति—'त्रित' का जीवन

चन्द्रमाऽअप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
रयिं पिशङ्गं बहुलं पुरुस्पृहꣳ हरिरेति कनिक्रदत्॥९०॥

१. पिछले मन्त्र का कण्व 'ज्ञान, सत्य व यज्ञ' का विस्तार करके 'त्रीन् तनोती इति त्रितः' प्रस्तुत मन्त्र का त्रित बन जाता है। इस त्रित का जीवन निम्न प्रकार का होता है। २. **चन्द्रमा**=इसका सदा आह्लादमय रहनेवाला मन **अप्सु**=व्यापक कर्मों के **अन्तरा**=बीच

में रहता है, अर्थात् यह अपने मन को व्यापक कर्मों में लगाये रखता है। मन को यहाँ चन्द्रमा शब्द से स्मरण किया है। मन चन्द्रमा है ही। **'चन्द्रमा मनसो जातः'**=विराट् पुरुष के मन से चन्द्रमा की उत्पत्ति होती है और चन्द्रमा से पिण्ड में मन की। मन सदा आह्लादमय होना चाहिए और वह सदा व्यापक कर्मों में लगा रहे। वही मन शुद्ध रहता है जो कर्मव्यापृत रहता है। ३. **सुपर्णः**=शोभन (सु) पालनादि कर्मों में लगा हुआ (पॄ पालनपूरणयोः) यह 'चित्त' **दिवि**=ज्ञान में **धावते**=(धाव्=शुद्धि) अपने को शुद्ध करता है। अपने को सदा ज्ञान में शुद्ध करते रहने से ही इसके कर्मों की पवित्रता बनी रहती है। ४. यह त्रित ज्ञान से सब मलों को दूर करके 'हरि' बना है, मलों का अपहरण करनेवाला अथवा इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने के कारण यह 'हरि' है। यह हरि **रयिम्**=उस ज्ञान की सम्पत्ति को **एति**=प्राप्त होता है जो (क) **पिशंगम्**=दीप्त है (Bright), चमकीली है, जिसमें मलों का सम्पर्क नहीं। (ख) **बहुलम्**=जो ज्ञान की सम्पत्ति (बहून् लाति) अपनी 'मैं' में बहुतों का समावेश कर लेती है, अपनी 'मैं' को व्यापक बना लेती है। ज्ञानी पुरुष सभी में प्रभु की सत्ता को देखता है, अतः सभी को अपने से अभिन्नरूप में देखता है। (ग) **पुरुस्पृहम्**=यह ज्ञान-धन पालन व पूरण करनेवाला है, अतएव स्पृहणीय है। इस ज्ञानधन को यह 'हरि' पाता है। इसको पाकर वह सदा ५. **कनिक्रदत्**=उस प्रभु के नामों का खूब उच्चारण करनेवाला बनता है। इसके जीवन में प्रभु का उपासन सतत चलता है।

भावार्थ—इस त्रित के जीवन में तीन बातें हैं—(क) यह प्रसन्नतापूर्वक कर्मों में लगा रहता है (ख) ज्ञान में अपना शोधन करता है, ज्ञान-सम्पत्ति को बढ़ाता है (ग) सदा प्रभु-स्मरण करता है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**विराड्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

देवों का आह्वान

देवंदेवं वोऽवसे देवं देवमभिष्टये।
देवंदेवꣳ हुवेम वाजसातये गृणन्तो देव्या धिया॥९१॥

१. **वः**=आपमें से **देवं देवम्**=प्रत्येक देव को **अवसे**=रक्षण के लिए **हुवेम**=पुकारते हैं। शरीर में रोगों का प्रवेश तभी होता है जब वहाँ दिव्य गुणों का स्थान विषय-वासनाएँ ले-लेती हैं। भोगवृत्ति आते ही रोग आने लगते हैं। एक समझदार व्यक्ति=मनु इस बात का पूरा ध्यान करता है कि कहीं विलास उसके विनाश का कारण न बन जाए। २. **देवं देवम्**=हम प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **अभिष्टये**=(क) वासनाओं पर आक्रमण के लिए और (ख) वासनाओं पर आक्रमण करके अभीष्ट की प्राप्ति के लिए। वासनाओं को दूर करने का उपाय 'प्रतिपक्षभावनम्'=वासना विरोधी दिव्य गुणों का भावन ही है। झूठ को दूर करने के लिए हमें उस स्थान पर सत्य को लाकर बिठाना चाहिए। प्रकाश को लाएँगे, अन्धकार तो भाग ही जाएगा। ३. हम **देवम् देवम्**=प्रत्येक देव को **हुवेम**=पुकारते हैं **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए। दिव्य गुणों के निवास से शक्ति बढ़ती है, इनके ह्रास में शक्ति का ह्रास है। ४. इस प्रकार देवों को प्राप्त करने से शरीर रोगों से आक्रान्त नहीं होता, मन वासनाओं से अभिभूत नहीं होता और हमारा जीवन सशक्त बना रहता है, परन्तु इन देवों का आह्वान होता कैसे है—**देव्या धिया गृणन्तः**=दिव्य बुद्धि से प्रभु के नामों का उच्चारण करते हुए। जब हमारी वाणी प्रभु के नामों का उच्चारण करेगी और हम

दिव्य गुणों की कामनावाली बुद्धि से उन नामों का भावन व चिन्तन करेंगे तभी ऐसा हो पाएगा।

भावार्थ—'मनु'=एक समझदार व्यक्ति दिव्यगुणों को धारण करता है, जिससे उसका शरीर नीरोग हो पाए, उसका मन वासनाओं पर आक्रमण कर, उन्हें पराजित कर सके और वह शक्ति का धारण कर पाए। इसी उद्देश्य से वह बुद्धिपूर्वक प्रभु नाम-स्मरण में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**मेधः**। देवता—**वैश्वानरः**। छन्दः—**निचृद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

एक आदर्श प्रचारक

दि॒वि पृ॒ष्टोऽअ॑रोचताग्निर्वै॑श्वान॒रो बृ॒हन्।
क्ष॒मया॑ वृधा॒नऽओज॑सा॒ चनो॑हितो॒ ज्योति॑षा बाधते॒ तमः॥९२॥

१. पिछले मन्त्र का मनु इस मन्त्र में 'मेध' (मेधृ संगमे) लोगों से सम्पर्क करनेवाला बनता है। अपना परिपाक करके ही प्रचार-क्षेत्र में उतरना ठीक है। दिव्य गुणों की आराधना करनेवाला ही दिव्यता का प्रसार कर सकता है। इस 'मेध' का जीवन निम्न शब्दों में द्रष्टव्य है—२. **दिवि पृष्टः**=यह प्रकाश में स्थित होता है, प्रकाश से संस्पृष्ट। यह अपने जीवन का आधार ज्ञान को बनाता है। इसकी श्रद्धा भी ज्ञानमूलक होती है। ३. **अरोचत**=इस ज्ञान के कारण ही यह (रुच दीप्तौ) दीप्त होता है। वस्तुतः ज्ञान से इसका जीवन पवित्र होता है, और पवित्रता में ही चमक है। ४. **अग्निः**=यह अपने जीवन को अग्रस्थान में प्राप्त कराता है, औरों को भी आगे ले-चलनेवाला होता है। ५. **वैश्वानरः**=(विश्व नरहितः) सब मनुष्यों के हित की भावना इसके मस्तिष्क में रहती है। ६. **बृहन्**=(बृहि वृद्धौ) इसका मन महान् होता है। संकुचित हृदय में ही रागद्वेष रहते हैं। हृदय की विशालता के कारण यह रागद्वेष से ऊपर उठा होता है। ७. **क्षमया वृधानः**=लोकहित में प्रवृत्त होने पर जब लोग इसका अपमान व बुरा करते हैं, तो यह क्षमा से बढ़ा होता है। यह उनको क्षमा करना जानता है। इसे उनकी अज्ञानता पर करुणा उत्पन्न होती है। ८. **ओजसा**=यह 'ओज' से युक्त होता है। वस्तुतः ओजस्वी होने के कारण ही क्षमाशील होता है। निर्बलता चिड़चिड़ेपन का कारण बन जाती है। ९. **चनोहितः**=यह अन्न पर आश्रित होता है। इसका जीवन वनस्पति भोजन पर निर्भर करता है। यह अपने शरीर के पोषण के लिए परहिंसन को पाप समझता है। मांसभोजन के मूल में ही क्रूरता, निर्दयता व स्वार्थ है। एक प्रचारक को इनसे ऊपर उठना आवश्यक है। १०. ऐसे जीवनवाला यह 'मेध' **ज्योतिषा**=ज्ञान की ज्योति से **तमः**=अन्धकार को **बाधते**, पीड़ित करता है, दूर करता है। यह लोगों के अज्ञान को दूर करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को 'मेध' का जीवन बनाएँ और संसार में प्रकाश फैलानेवाले बनें।

ऋषिः—**सुहोत्रः**। देवता—**इन्द्राग्नी**। छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**। स्वरः—**गान्धारः**॥

एक आदर्श पत्नी

इन्द्रा॑ग्नीऽअ॒पादि॒यं पूर्वागा॑त्प॒द्वती॑भ्यः।
हि॒त्वी शिरो॑ जि॒ह्वया॒ वाव॑दच्चर॒त्रिꣳश॑त्प॒दा न्य॑क्रमीत्॥९३॥

१. 'इन्द्राग्नी' शब्द द्विवचन है, परन्तु मन्त्रके अगले 'अपात्', 'इयं' आदि सब शब्द

एकवचन हैं, अतः 'इन्द्र और अग्नि' अर्थ न करके हम 'इन्द्र की अग्नि' अर्थ लेंगे। घर में पुरुष ने 'इन्द्र' होना, अर्थात् पति को सदा जितेन्द्रिय होना। इसकी पत्नी अग्नि है, घर की सब प्रकार की उन्नति का कारण है। गृहिणी ने घर को सब दृष्टिकोणों से उन्नत करना है। इससे एक बात तो सुव्यक्त है कि उसका स्थान घर में हैं, उसने इधर-उधर नहीं घूमना। घूमती हुई पत्नी ठीक नहीं मानी जाती, अतः मन्त्र को इस भावना से प्रारम्भ करते हैं २. **इयम्**=यह 'अग्नि' घर की उन्नतिसाधक पत्नी **अपात्**=बिना पाँववाली है, अर्थात् यह व्यर्थ में इधर-उधर नहीं घूमती। 'अपात्' यह कितनी सुन्दर काव्यमय भाषा है, बाहर जाने के लिए उसके पाँव ही नहीं हैं। ३. 'अपात्' होती हुई भी यह घर में बड़ी क्रियाशील है। **पद्वतीभ्यः**=उत्तम पाँववालियों से भी **पूर्वा अगात्**=पहले पहुँची होती है, अर्थात् यह अधिक-से-अधिक क्रियामय जीवनवाली होती है। घर के कार्यों में बड़ी स्फूर्तिवाली होती है। ४. यह अपनी प्रत्येक क्रिया को पूर्ण समझदारी के साथ करती है **शिरः हित्वी**=सिर को धारण (दधातेर्हिः) करके चलती है। इसका मस्तिष्क सदा सन्तुलित रहता है। इसी कारण यह अपने कार्यों को कुशलता से कर पाती है। ५. यह अपने कार्यों को करती हुई **जिह्वया**=जिह्वा से **वावदत्**=निरन्तर प्रभु के पवित्र मन्त्रों का उच्चारण करती है। ६. **चरत्**=उन नामों के अनुसार यह अपनी क्रिया को भी बनाती है। उन नामों को आचरण में लाती है। 'प्रभु दयालु हैं' तो यह भी दयालु बनने का ध्यान करती है और इस प्रकार इसका जीवन प्रभु के गुणों को अपने में धारण कर रहा होता है। जिस पत्नी का जीवन इस प्रकार प्रभु के गुणों को धारण करके प्रभु का ही छोटा रूप हो जाता है, वहाँ देवों का निवास तो होगा ही। यही बात यहाँ निम्न शब्दों में कहते हैं—७. यह पत्नी **त्रिंशत् पदा**=तीस (पद गतौ) कदमों से **न्यक्रमीत्**=निश्चयपूर्वक चलती है, अर्थात् अपने घर में तीस देवों के निवास के लिए प्रयत्नशील होती है। पति 'इन्द्र' देवता है, पत्नी भी 'अग्नि' देवता ही है, अतः इनका सन्तान भी देव क्यों न होगा? एवं, 'पति, पत्नी व सन्तान' तीन मुख्य देव तो ये हुए, इनके अतिरिक्त तीस देवों, अर्थात् सब अच्छाइयों को अपने घर में लाने का पत्नी ने प्रयत्न करना है। जब ये अपने प्रयत्न में सफल होकर घर को तैंतीस देवों का निवासस्थान बना पाती है तब वहाँ ३४वें महादेव का निवास तो होता ही है। वही घर प्रभु का घर बनता है जहाँ देवों का निवास हो, ऐसा घर देवगृह बनकर 'स्वर्ग' बन जाता है।

भावार्थ—पत्नी घर में रहकर निरन्तर क्रियाशीलता से घर को बड़ा सुन्दर बना पाती है। यह समझदारी से प्रत्येक काम को करती है। प्रभु को नहीं भूलती। प्रभु का अनुकरण करने का प्रयत्न करती है और अपने घर को देवों का निवासस्थान बनाकर प्रभु को आमन्त्रित करती है।

ऋषिः—**मनुः**। देवता—**विश्वेदेवाः**। छन्दः—**पङ्क्तिः**। स्वरः—**पञ्चमः**॥

वरिवोवित् देव

देवासो हि ष्मा मनवे समन्यवो विश्वे साकꣳ सरातयः।
ते नोऽअद्य तेऽअपरं तुचे तु नो भवन्तु वरिवोविदः॥१४॥

१. **मनवे**=मनु के लिए **विश्वे देवासः**=सब देव **साकम्**=साथ मिलकर **सरातयः**='राति'-वाले **हि**=निश्चय से **स्म**=हों। राति अर्थात् देना। देवों ने देवत्व ही तो देना है। गतमन्त्र में कहा गया था कि आदर्श पत्नी सब देवों को घर में लाने का प्रयत्न करती है। जो व्यक्ति

समझदार होता है, उसे माता, पिता, आचार्य, अतिथि आदि सभी देव देवत्व प्राप्त कराने का प्रयत्न करते हैं। ये देव कैसे हैं? **समन्यवः**=समान मन्युवाले। समान ज्ञानवाले—परस्पर एकमतवाले। यदि घर में माता-पिता 'समन्यु' न हों तो बालक पर ठीक प्रभाव नहीं पड़ता। शिक्षणालय में अध्यापक 'समन्यु' न हों तो विद्यार्थियों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र के, मन्त्रिमण्डल में ऐक्य न हो तो राष्ट्र की व्यवस्था बिगड़ जाती है, अतः सभी देवों का एक ही संकल्प है, और वह यह कि मनु को अपना देवत्व प्राप्त कराकर उन्नत बनाना। 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद'=उत्तम माता, पिता व आचार्यवाला व्यक्ति ही विद्वान् बनता है। २. **ते**=वे विद्वान् **अद्य**=आज **नः**=हमें **वरिवोविदः**=ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले **भवन्तु**=हों **तु**=और **अपरम्**=अपरकाल में (afterward) **ते**=वे विद्वान् **नः तुचे**=हमारे सन्तानों के लिए भी **वरिवोविदः**=इस ज्ञान-धन को प्राप्त करानेवाले हों।

जैसे हमें ज्ञानियों ने ज्ञान प्राप्त कराया, इसी प्रकार हमारी सन्तानों को भी ज्ञानियों का सम्पर्क मिले और वे भी ज्ञान-धन के धनी बन पाएँ। वस्तुतः सन्तानों के लिए इससे उत्तम और क्या प्रार्थना हो सकती है? ३. प्रस्तुत मन्त्र में देवताओं के लिए जहाँ **'समन्यवः'**=ज्ञानसहित तथा समान ज्ञानवाले और **सरातयः**=देने की वृत्ति से युक्त—ये दो बातें कही गई हैं, वहाँ लेनेवाला भी **मनुः**=समझदार होना चाहिए। उसकी वृत्ति भी लेनेवाली हो। उसके अन्दर 'प्रणिपात, परिप्रश्न व सेवा की भावना' हो, जिससे कि देव सचमुच मिलकर उसके जीवन का सुन्दर निर्माण कर पाएँ। प्रस्तुत मन्त्र का ऋषि ऐसा निर्माण किये जाने की योग्यता रखनेवाला 'मनु' ही है।

भावार्थ—हमें देवताओं का सम्पर्क प्राप्त हो और हम ज्ञानरूप धन को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**भुरिग्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

हिंसा से दूर

अपाधमद॒भिश॑स्तीरश॒स्तिहाथेन्द्रो॑ द्यु॒म्याभ॑वत्।
दे॒वास्त॑ऽइन्द्र स॒ख्याय॑ येमिरे॒ बृह॑द्भानो॒ मरु॑द्गण॥९५॥

१. गत मन्त्र का मनु देवों से देवत्व प्राप्त करके अब नृमेध बनता है, औरों के सम्पर्क में आकर उनके हित में प्रवृत्त होता है। २. यह नृमेध **अभिशस्तीः**=सब प्रकार की हिंसाओं को **अपाधमत्**=अपने से दूर फेंकता है, इन वृत्तियों को समाप्त करके अपने से दूर करके चमक जाता है। ३. यह केवल हिंसा से ही दूर नहीं होता। हिंसा तो यहाँ सब अवगुणों का प्रतीकमात्र है। यह नृमेध **अशस्तिहा**=सब अप्रशस्त बातों का नाश करनेवाला होता है। ४. **अथ**=अब—सब बुराइयों को दूर करके **इन्द्रः**=यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता नृमेध **द्युम्नी**=ज्योतिरूप धनवाला **आभवत्**=सब प्रकार से हो जाता है। अधिक-से-अधिक व्यापक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होता है। इस प्रकार—५. हे **बृहद्भानो** =वृद्ध (बढ़ी हुई) ज्ञान की दीप्तिवाले **मरुद्गण**=प्राणों के गण से युक्त नृमेध! **देवाः**=सब देव हे **इन्द्र**=इन्द्र! **सख्याय**=प्रभु से मित्रता केलिए **ते**=तेरे जीवन को **येमिरे**=नियमित बनाते हैं। प्राणों की साधना से सब देवों की अनुकूलता प्राप्त होती है और यह नृमेध प्रकृति की आसक्ति से ऊपर उठकर प्रभु का मित्र बन पाता है।

भावार्थ—हम हिंसा से दूर रहें, बुराइयों को नष्ट करें, ज्ञानधन को प्राप्त करें, प्राणसाधना से देवों की अनुकूलता का सम्पादन करके प्रभु के सखा बनें।

ऋषिः—**नृमेधः**। देवता—**इन्द्रः**। छन्दः—**निचद्बृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

प्राणों का ब्रह्मार्चन—शतपर्व वज्र

प्र वऽइन्द्राय बृहते मरुतो ब्रह्मार्चत।
वृत्रꣳ हनधित वृत्रहा शतक्रतुर्वज्रेण शतपर्वणा॥९६॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=अपने **बृहते**=ज्ञान का वर्धन करनेवाले **इन्द्राय**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता आत्मा केलिए **ब्रह्म प्रार्चत**=उस ब्रह्म की प्रकर्षेण अर्चना करो। प्राणों के संयम से ही प्रभु का ठीक आराधन सम्भव है। २. प्रभु का आराधन करके यह इन्द्र **'वृत्रहा'**=वृत्र का नाश करनेवाला बनता है। आत्मा के ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली वासना ही वृत्र है। इस **वृत्रम्**=कामरूप वृत्र को यह प्राणों द्वारा ब्रह्मार्चन करनेवाला **हनति**=नष्ट कर डालता है। काम 'प्रद्युम्न' है=प्रकृष्ट बलवाला है। इसे मारना सुगम नहीं, परन्तु जब ब्रह्म की आराधना सम्पन्न होती है, तब यह काम 'भस्मीभूत' हो जाने के भय से वहाँ आता ही नहीं। ३. काम से ऊपर उठकर जीव 'शतक्रतु' बनता है। **शतक्रतुः**=यज्ञकर्त्ता जीव **शतपर्वणा वज्रेण**=सौ पर्वोंवाले वज्र से वृत्र को मार गिराता है। शतक्रतु के इस 'शतपर्व वज्र' का अभिप्राय **शत**=सौ-के-सौ वर्ष, अर्थात् जीवनपर्यन्त पर्व=(पूरणे) अच्छाइयों को अपने में पूरण करनेवाली (वज् गतौ) क्रियाशीलता ही है। मनुष्य जब तक क्रियाशील रहता है तब तक उसमें बुराइयों का प्रवेश नहीं होता। अकर्मण्यता आई और बुराइयों का आक्रमण हुआ। एवं, अभिप्राय स्पष्ट है कि मनुष्य ने पूर्ण आयुष्यपर्यन्त क्रियामय बने रहना है। यह क्रिया लोकहित के लिए होती हुई यज्ञरूप हो जाती है। सब यज्ञ कर्म से ही होते हैं। यह क्रियाशीलता इन्द्र का 'शतपर्व वज्र' है, इसी से वह वृत्र का विनाश करता है।

भावार्थ—हमारे प्राण ब्रह्मार्चन में लगें। ब्रह्म की मित्रता से शक्तिशाली बनकर हम वृत्र का विनाश करें। 'सतत क्रियाशीलता' वृत्र-विनाश के लिए हमारा साधन बने।

ऋषिः—**मेधातिथिः**। देवता—**महेन्द्रः**। छन्दः—**स्वराट् सतोबृहती**। स्वरः—**मध्यमः**॥

इन्द्र का वर्धन

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यꣳ शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा॥९७॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **अस्य इत्**=निश्चय से इस प्रभु का होता है। यह प्रकृति में आसक्त नहीं होता। प्रकृति का प्रयोग करता हुआ भी यह उसका उपभोग नहीं करने लग जाता और इसी का परिणाम होता है कि यह २. **वृष्ण्यं शवः**=सबपर सुखों की वर्षा करनेवाली शक्ति को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। भोग शक्ति को जीर्ण करते हैं। ३. इस शक्तिवृद्धि का रहस्य इस बात में है कि यह उत्पन्न सोम को शरीर के अन्दर ही व्याप्त करता है। भोगों में अनासक्त व्यक्ति ही ऐसा कर पाता है। **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम के **विष्णवि**=(विश् व्याप्तौ) शरीर में व्याप्त होनेवाले **मदे**=उल्लास के होने पर यह इन्द्र अपने में शक्ति का वर्धन करता है। ४. **अद्य**=आज, जब ये भोगों का शिकार न होकर सोमरक्षा कर पाएँ हैं तब **अस्य**=इस प्रभु की **तम् महिमानम्**=उस प्रसिद्ध महिमा को **आयवः**=क्रियाशील होते हुए (एति इतिं आयुः) **अनुष्टुवन्ति**=गाते हैं, उसी प्रकार **पूर्वथा**=जैसेकि प्रकृति का रंग चढ़ने से पूर्व यह प्रभुकी उपासना करता था।

३३वें अध्याय की समाप्ति **'वावृधे वृष्ण्यं शवः'**=इसका सुखवर्षक बल बढ़ता है।

यह शक्तिशाली बनता है, इसकी शक्ति औरों को सुखी करनेवाली होती है, पीड़ित करनेवाली नहीं, पर होती है (क) इस ३३वें अध्याय का प्रारम्भ 'अस्याजरास्य' शब्दों से हुआ था कि 'इस प्रभु के भक्त जीर्ण नहीं होते' समाप्ति पर भी वही बात कही—इनकी शक्ति बढ़ती है। एवं, यह ३३वाँ अध्याय सब प्रकार की 'शक्ति' के वर्धन का अध्याय है। (ख) दूसरी ध्यान देनेवाली बात यह है कि यह-अध्याय ३३ संख्या पर है, देव भी तैतीस हैं। इन तैतीस देवों को अपने में धारण करने का इस अध्याय में कई बार उल्लेख है। इस अध्याय के ३३वें मन्त्र को 'दैव्यौ' शब्द से प्रारम्भ किया गया है, पति-पत्नी ने अपने में देवों की स्थापना करनी है। ६६वें मन्त्र में अपने में सब देवों की स्थापना करनेवाले असुरों का संहार करनेवाले 'देवराट् इन्द्र' का वर्णन है। अपने में इन देवों की स्थापना करनेवाला 'मेधातिथि'=निरन्तर समझदारी से चलनेवाला इस मन्त्र का ऋषि है।

भावार्थ—हम प्रभु के बनें, शक्तिशाली हों, प्रभु का स्तवन करें और उन्नत हों।

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः॥